हिमालय की पौराणिक जन-जातियां

बंशी राम शर्मा

हिमालय की पौराणिक जन-जातियां

हिमालय की पौराणिक जन-जातियां

बंशी राम शर्मा

अनकही

हमारे देश के पौराणिक साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है जो कहा तो गया है परंतु उसका सही अर्थ निकालने में अनेक कठिनाइयां हैं क्योंकि साहित्यिक तथा प्रतीक-भाषा के कारण उसके एक से अधिक अर्थ बनते हैं। सुर, असुर, किन्नर, राक्षस, गंधर्व, यक्ष, नाग आदि जातियों को मानव-वर्ग से निकालकर अलौकिक प्राणी मान लिया गया है क्योंकि इन वर्गों के लोगों का विधिवत् इतिहास उपलब्ध नहीं है। सांस्कृतिक भिन्नता के संदर्भों के कारण इन्हें या तो श्रद्धास्पद बना दिया गया अथवा घृणा के भावों के अंतर्गत इनका समग्र रूप में तिरस्कार हुआ है। आध्यात्मिकता के साथ उच्च साहित्यिक परंपरा से सम्पन्न आर्य, यह जानते थे कि ज्ञान-प्राप्ति से ही मनुष्य महान बनता है। उन द्वारा रचित ग्रंथों में तत्कालीन शत्रुओं को हीन संस्कृति वाले व्यक्ति बताया गया तथा अपने निवास-स्थान को स्वर्ग, इंद्रलोक, देवलोक, त्रिविष्टप आदि नामों से अभिहित किया गया। उस समय भले ही इस प्रकार की उक्तियों को सामान्य वाक्य के रूप में लिया गया हो परंतु कालांतर में उनका सही संदर्भ खोजने में कठिनाई हुई है।

देवलोक, पितरलोक, इंद्रपुरी, स्वर्ग तथा नरक; नागलोक, किन्नर-गंधर्व-यक्ष जातियां आदि ऐसे संदर्भ हैं जिनका संबंध भूतल से उठकर परलोक से जुड़ गया। पुनर्जन्म के विश्वास के कारण अच्छी तथा बुरी आत्माओं को दैवीशक्तियों के रूप में जाना जाने लगा और उनके निवास के संबंध में अनेक आख्यानों की रचना हुई। इन बातों से पुराण-साहित्य मात्र धर्म का साहित्य रह गया और इस पर मानवीय दृष्टिकोण से सोचने का अवकाश ही नहीं रहा। यह अच्छी बात हुई कि इस सारे साहित्य को धर्म के साथ जोड़कर हमारी परंपरा अविच्छिन्न हो गई और देश की संस्कृति को पुष्ट आधार प्राप्त हुआ।

हिमालय प्राचीन भारतीय संस्कृति का अभिलेखागार है। यहीं देव, किन्नर, गंधर्व, यक्ष आदि जातियां निवास करती रही हैं और दस्यु-युद्ध भी इसी भूभाग में हुआ है। वर्तमान में इस क्षेत्र की जातियों के रहन-सहन के अध्ययन से हमारे सांस्कृतिक इतिहास के प्रच्छन्न तंतुओं को जोड़ने में कठिनाई नहीं है।

हिमालय पर्वत का उल्लेख ऋग्वेद (10/121/4) में हिमवंत के नाम से हुआ है। इसे पर्वत, अद्रि तथा गिरि नामों से भी संदर्भित किया गया है। वृत्र अद्रि में छिपा था तथा इंद्र ने शंबर को गिरि से नीचे गिराया था। जेंद (प्राचीन फारसी) में 'दस्यु' शब्द का प्रयोग मनुष्य जाति के वर्गविशेष के लिए हुआ है।

दाशराज्ञयुद्ध, जिसे 'परुष्णी युद्ध' भी कहा गया है, का घटनास्थल विपाश (व्यास) तथा शतद्रु (सतलुज) के बीच की भूमि रहा। यह निर्विवाद सत्य है कि धर्मकथाओं का अध्ययन स्वयं में एक विज्ञान है। यही कारण है कि इस साहित्य का विश्लेषण विदेशी विद्वानों ने नये ढंग से प्रस्तुत किया और हम अपने मत के खंडन-मंडन के लिए उनके संदर्भ तलाश करते हैं। यह सभी जानते हैं कि प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त अनेक शब्दों के अर्थों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। 'असुर' शब्द इसका एक अच्छा उदाहरण है।

पहले देव भी असुर थे परंतु बाद में 'असुर' दुरात्माओं का वाचक शब्द हो गया। दानव 'जल का दान' देने वाले थे और इसीलिए अग्नि, वरुण, मित्र तथा अर्यमा 'सुदानव' भी कहे गए हैं, बाद में यह शब्द दुरात्माओं के लिए प्रयुक्त होने लगा।

प्रस्तुत पुस्तक में हिमालय-क्षेत्र के लोक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में कुछ नई बातों पर विचार करने का प्रयास किया गया है। इस संबंध में मेरा कदापि यह आग्रह नहीं है कि प्रबुद्ध पाठक सहमति प्रकट करें किंतु यदि उन्हें पुस्तक के अंश आगे सोचने की कहीं भी प्रेरणा दे पाएं तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

यह पुस्तक पश्चिमी हिमालय की संस्कृति के मूलस्रोतों का अध्ययन करने के प्रयत्न के फलस्वरूप लिखीगई है। इसके लिए जिन साहित्यकार-मनीषियों के ग्रंथों का सहारा लिया गया है, उनके लिए शब्दों का यह अकिंचन धन्यवाद के लिए अभिव्यक्ति कहां से लाए!

प्रस्तुत रचना में दी गई सामग्री के प्रस्तुतिकरण में जो कमियां रह गई हैं उनके प्रति विवशता रही है, इस संबंध में क्षमा प्रार्थी हूं। विश्वास है विद्वान् पाठक अपने सुझावों से लाभान्वित करेंगे।

इस पुस्तक को पाठकों तक पहुंचाने की दिशा में कुछ ऐसे शुभ-चिंतकों का योगदान रहा है जिनके ऋण से मुक्त होने के लिए शब्दों की कमी पड़ रही है फिर भी साक्ष्य के रूप में उनका उल्लेख करना अपना दायित्व समझता हूं। इनमें पं० संतराम वत्स्य, श्री मौलूराम ठाकुर, मियां गोवर्धन सिंह, अग्रज पं० सुखराम जी, अनुज सीताराम शर्मा, डॉ० मनोहरलाल, प्रेमलता वात्स्यायन तथा धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पलता के सहयोग के लिए विशेष रूप से आभारी हूं।

इस पुस्तक को इतने कम समय में प्रस्तुत करने में प्रकाशक श्री सत्यव्रत शर्मा तथा प्रिय जवाहरलाल (चोपड़ा प्रिंटर्स) विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

11 मई, 1985
शिमला

—बंशीराम शर्मा

क्रम

पूर्विका

ऋग्वेद में आर्यवर्ण तथा दस्युवर्ण की दो प्रजातियों का वर्णन है। इसमें ग्रंथ वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपाश तथा शुतुद्री नदियों के संबंध में अनेक ऋचाएं हैं तथा उस समय के पांच प्रमुख जन पुरु, तुर्वशस्, यदु, अनु तथा द्रुह्यु वर्णित हैं। यद्यपि कतिपय ग्रंथों में इन जनों को आर्यों से संबद्ध बताया जाता है तथापि ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि इन जातियों के लोगों ने आर्यों पर परुष्णी (रावी) के तट पर आक्रमण किया था अत: वे यहां के आदिवासी कबीले रहे होंगे।

ऋग्वेद में 'अनु' का अर्थ अनार्य; 'द्रुह' का अर्थ 'द्रोह करने वाला' अथवा शत्रुता रखने वाला; 'तुर्व' का अर्थ 'अधिकार करना' बताया गया है। यद्यपि 'यदु' का स्पष्टतया कोई अर्थ निकाल पाना संभव नहीं है परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थानीय नाम रहा होगा।।[1] ये जन रावी के पश्चिमी ओर रहते थे तथा इनकी भाषा पश्चिमी ईरानी तथा पूर्वी दरद थी।[2]

सुधाकर चट्टोपाध्याय का कथन है कि पुराणों में सौद्युम्न जाति के जिन लोगों का वर्णन है वे ही किम्पुरुष थे।[3] उन्होंने पार्जिटर महोदय की पुस्तक 'एंशियण्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन' का संदर्भ अंकित करते हुए बताया है कि लेखक

1. Racial Affinities of Early North Indian Tribes—Sudhakar Chattopadhyaya, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1973, PP. 2-3
2. Ibid. P. 3
3. Ibid, Page 65 which reads, "A third group of people, possibly the aboriginals, are described as Saudyumna. The Saudyumna are described as kimpurusa i.e. ugly persons and occupied Gaya, Vanga, and Utkala or Orissa and the Chhota Nagpur regions. This would show that ugly Saudyumnas were the Proto-Austroloids of the Eastern zones."

के अनुसार ' 'सौद्युम्न' वर्ग के लोग निश्चय ही मुंडा प्रजाति से संबद्ध थे तथा वे पूर्व की मौनख्मेर शाखा से भी सन्दर्भित रहे हैं ।' उन्होंने सौद्युम्नों को किस प्रकार किम्पुरुषों से संबंधित बताया है, इस संबंध में स्थिति स्पष्ट नहीं है । उक्त पुस्तक के पृष्ठ 66 पर सौद्युम्नों को दासदस्युओं की श्रेणी में गिना गया है । पौरवों को 'ऐल' भी कहा जाता था तथा वे यादव, तुर्वस, द्रुह्यु, अण्व तथा पुरु नाम की पांच श्रेणियों में विभक्त थे । इनमें से यादवों ने राजस्थान से बंबई, दक्षिणपूर्वी बरार, यमुनाक्षेत्र तथा मत्स्यदेश एवम् कुछ पर्वतीय क्षेत्रों तक अपने राज्य को बढ़ाया । तुर्वसों का कोई उत्तराधिकारी नहीं रहा । द्रुह्यु वर्ग के लोगों ने गांधार तथा उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश तक शासन किया ।

अण्वों ने पंजाब तथा पूर्वी भारत पर अपना राज्य स्थापित किया तथा पुरुओं ने, जिन्हें 'भरत' भी कहा जाता था हस्तिनापुर, पांचाल, मगध, कौशाम्बी तथा मत्स्य आदि देशों क्षेत्रों में प्रभुत्व जमाया । यह ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में इन पांचों वर्गों को अक्सर भरत राजा सुदास के विरोधी बताया गया है परंतु उत्तर-वैदिक काल में विभिन्न प्रजातियों का सम्मिश्रण हो जाने से पुरु तथा भरतों का मिलन हुआ और कुरु लोग उद्‌भूत हुए ।[1] आरंभिक काल में प्रयाग तथा पठानकोट नाम के दो नगरों का प्रतिष्ठान नाम होने के कारण कतिपय विद्वानों को यह भ्रम हुआ कि आर्य लोग पूर्व की ओर न बढ़कर पश्चिम की ओर बढ़े ।

वास्तविकता यह है कि ऐल अर्थात् आर्य ऐलाहाबाद (इलाहाबाद) से अन्य क्षेत्रों की ओर गए । पठानकोट (प्रतिष्ठान) उस समय संभवतः औदुम्बरों की राजधानी था ।[2] मार्कण्डेय पुराण में सुद्युम्न के तीन पुत्रों उत्कल, विनय तथा गया का वर्णन है परंतु उन्हें किम्पुरुष कहीं भी नहीं बताया गया है । भागवत पुराण (5/2) के अनुसार किम्पुरुष आग्नीध्र के नौ पुत्रों में दूसरा था । इसकी पत्नी का नाम प्रतिरूपा था ।[3] आग्नीध्र जिसका नाम विष्णु-पुराण में 'अग्नीध्र' भी है, जंबूद्वीप का अधिपति था । पूर्वचित्ति नामक अप्सरा से आग्नीध्र के नौ पुत्र हुए जिनमें जंबूद्वीप का संपूर्ण क्षेत्र बांट दिया गया ।

विष्णु तथा भागवत् पुराणों के अनुसार यह बांट इस प्रकार हुई[4]—नाभि नामक पुत्र को हिमवर्ष (हिन्दुस्तान), किम्पुरुष को हेमकूटवर्ष, हरिवर्ष को नैषधवर्ष, इलावृत्त को मेरुपर्वत युक्त इलावृत्तवर्ष, रम्यक को नीलपर्वत युक्त

1. Racial affinities of Early North Indian Tribes—
   Sudhakar Chattopadhyaya, opp. cit., pp. 66-68
2. Ibid.
3. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्र कोश—म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पूना, 1964
   पृ० 143, 55
4. वही, पृ० 55

रम्यकवर्ष, हिरण्वान को श्वेतदीपवर्ष, कुरु को श्रृंगवद्वर्ष, भद्राश्व को मेरु के पूर्व में स्थित भद्राश्ववर्ष तथा केतुमाल को गंधमानवर्ष दिया गया। यद्यपि इन वर्षों का भौगोलिक निर्धारण करना दुस्तर कार्य है परंतु इतना कहा जा सकता है कि किम्पुरुषवर्ष ही किन्नरक्षेत्र रहा होगा। कतिपय विद्वान किन्नरों को अश्वमुख तथा किम्पुरुषों को अश्वशरीर मानते हैं।[1] परंतु यह धारणा युक्तिसंगत नहीं है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डी० सी० सरकार का कथन है कि किम्पुरुषवर्ष हिमवत तथा हेमकूट पर्वतों के बीच के स्थान का नाम था।[2] उनके कथन का आधार स्पष्ट नहीं है परंतु आग्नीध्र ने किम्पुरुष को हेमकूट क्षेत्र बांट में दिया था, इस संबंध में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। मत्स्यपुराण के अनुसार इन वर्षों की संख्या 9 के स्थान पर 7 है और किम्पुरुषवर्ष भारत के उत्तर की ओर स्थित बताया गया है।[3] विष्णुपुराण[4] के अनुसार किम्पुरुषवर्ष 900 योजन लंबा है तथा हिमवतवर्ष से हेमकूटपर्वत तक मेरुपर्वत के दक्षिण में स्थित है परंतु महाभारत के सभापर्व के अनुसार यह धवलगिरि से पीछे हिमालय के उत्तर की ओर स्थित है।

मत्स्यपुराण (114/63) तथा गरुड़पुराण (55/2) के अनुसार इसकी स्थिति हिमालय के उत्तरपूर्व में बताई गई है। कुछ पुराणों के अनुसार हेमकूट वर्ष को ही किम्पुरुषवर्ष कहा जाता है। श्री एस० एम० अली ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दी ज्योग्राफी ऑफ् दी पुराणाज' में हेमकूटपर्वत की स्थिति हिंदूकुश तथा कराकुरम पर्वतों के मध्य दिखाई है। प्राचीनकाल की विभिन्न जातियों पर विशद विवेचन करते समय इस प्रश्न पर आगे विचार किया जाएगा। यहां यह कहना असंगत नहीं होगा कि हेमकूट की स्थिति कुल्लू में स्थित 'हामटा', जो इन्द्रकील पर्वत के समीप है, से संबंधित भी अनुमानित की गई है। हेमकूट से 'हामटा' बन जाना संभव है।

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics-Part I, Page 258 B and Vol. II Page 810 A.
2. D. C. Sircar—Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, p. 62
3. देखिए—किन्नर लोक साहित्य—डॉ० बंशीराम शर्मा, 1976, पृ० 10-16
4. II, 2/14, तथा A Critical Survey of Geographical Material in the Nilmata, The Matsya, The Vishnu and The Vayu Purana—A Copy of the Ph. D. Thesis in the Library of Delhi by Savitri Saxena, Page 39 as quoted in Kinnar Lok Sahitya pp. 10-16

हिमाचल प्रदेश के वैदिक इतिहास के संदर्भ में दिवोदास-शंबर तथा दाशराज्ञ युद्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि ऐसा मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि दाशराज्ञ युद्ध प्राचीन हिमालय की भूमि पर लड़ा गया होगा। ऋग्वेद में इस युद्ध के अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। इसमें सुदास पैजवन नामक राजा ने दस राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री, चित्राव अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश में लिखते हैं कि 'पिजवन' संभवतः सुदास की उपाधि अथवा पिता का नाम रहा होगा। परंतु ऋग्वेद (7/28/25 तथा 7/18/22) का संदर्भ देते हुए उन्होंने लिखा है कि सुदास के पिता का नाम दिवोदास तथा दादा का नाम देववत् था। ऋग्वेद (3.53/9-11) में इसके क्षेत्र को विपाश (व्यास) तथा शुतुद्री (सतलुज) नदियों के बीच स्थित बताया गया है तथा इसके द्वारा एक अश्वमेध यज्ञ किए जाने का वर्णन भी उपलब्ध होता है। विश्वामित्र तथा वसिष्ठ दोनों ही इसके पुरोहित बताए गए हैं। कालान्तर में विश्वामित्र इससे अप्रसन्न हुआ और उसने दाशराज्ञ युद्ध में सुदास के विरुद्ध कार्य किया। सुदास के विपक्ष में यद्यपि लगभग तीस[1] राजाओं ने भाग लिया, भले ही दस राजाओं के युद्ध को 'दाशराज्ञ युद्ध' कहा गया हो। इनमें से प्रमुख नाम इस प्रकार हैं– (1) शिम्यु, (2) तुर्वश, (3) द्रुह्यु, (4) पुरु, (5) अनु, (6) शंबर, (7) वैकर्ण, (8) यदु, (9) मत्स्य, (10) पक्थ, (11) भलानस्, (12) अज, (13) शिव, (14) यक्षु, (15) सुतक, (16) श्रुत, (17) वृद्ध, (18) मन्यु तथा (19) पृथु। इनमें से अनेक की ऐतिहासिकता विवादास्पद है तथा अनेक नाम राजाओं से संबद्ध न होकर अन्य व्यक्तियों के हो सकते हैं।

ऋग्वेद में यह भी उल्लेख है कि इसे त्रसदस्यु के पिता पुरुकुत्स से हार माननी पड़ी तथा त्रसदस्यु के साथ भी इसका युद्ध हुआ। दिवोदास व इंद्र ने शंबर के सौ दुर्गों को नष्ट किया इस, संबंध में भी अनेक ग्रंथों में उल्लेख मिलते हैं। सुदास की पत्नी का नाम सुदेवी तथा पुत्रों को सामूहिक रूप से 'सौदास' कहे जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। वसिष्ठ के सौ पुत्रों को, जिनमें सब से बड़े का नाम शक्ति था, विश्वामित्र द्वारा भेजे गए राक्षसों ने मार डाला। इसी शक्ति ऋषि का पुत्र वैदिक सूक्त द्रष्टा तथा स्मृतिकार पराशर ऋषि हुआ जिसके पुत्र का नाम 'वेदव्यास' था। पराशर ऋषि की माता का नाम अदृश्यन्ती था। बड़े होकर पराशर ने राक्षसों के जला डालने के उद्देश्य से अपनी तपस्या से अग्नि सिद्ध की परंतु बाद में अन्य ऋषियों के द्वारा समझाए जाने पर उसने इसे जंगल में फेंक दिया। पराशर ऋषि के आश्रम के समीप कुल्लू के कमान्द गांव में अब भी भीषण अग्नि जला कर एक उत्सव आयोजित किया जाता है जिसे

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश पृ॰ 1056-1057

'कमान्दी पोर' कहा जाता है। महाभारत (आदिपर्व 169-170, 172), विष्णु-पुराण (1/1) तथा लिंग पुराण (1/64) में इस अग्नि के 'पर्वकाल' में प्रकट होने का उल्लेख है।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'कमान्दीपोर' 'कमान्द गांव का पर्व' ही है। दाशराज्ञ युद्ध अनेक युद्धों का नाम है और कुछ विद्वानों का मत है कि सुदास के साथ उनके शत्रु राजाओं के दो युद्ध क्रमशः परुष्णी (रावी) तथा यमुना नदियों के तटों पर हुए। ऋग्वेद के सातवें मंडल के सूक्त (18-20) के अनुसार वह इन दोनों युद्धों में विजयी हुआ।[1] शंबर के साथ इंद्र के युद्ध का उल्लेख भी हुआ है। दिवोदास तथा शंबर के युद्धों के अनेक संदर्भ ऋग्वेद में उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि इंद्र व शंबर समकालीन थे और दिवोदास उस काल का एक अन्य योद्धा था। कुल्लू में इंद्रकील पर्वत की विद्यमानता, शंबर के पिता का नाम कुलितर वर्णित होना, भृगुतुंग का भृगु से संबंधित होना तथा उसी क्षेत्र में मंझाट (मुंजवत्) पर्वत की स्थिति ऋग्वैदिक भूगोल को कुल्लू-क्षेत्र से जोड़ने के पर्याप्त प्रमाण हैं। 'कुलितर' शब्द से 'कोल', 'कुलूत', 'कुलिन्द' व 'कुल्लू' शब्दों का साम्य इस बात को और भी पुष्ट करता है।

वैरन ने सबसे पहले यह सुझाव दिया था कि लगभग दस लाख वर्ष पहले मानव तथा हिमालय एक साथ अस्तित्व में आए।[2] डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार आदिमानव पंजाब तथा शिवालिक-पर्वत की ऊंची भूमि पर प्रकाश में आया।[3] डॉ० आर० सी० मजूमदार का कथन है कि शिवालिक-पर्वतमाला में पाए जाने वाले गोल-गोल पत्थरों का संबंध आंतरिक हिमयुग तथा द्वितीय हिमपात युग से है। इन्हीं पत्थरों के साथ आदिम मानव के अस्तित्व का प्रश्न जुड़ा है।[4]

शिवालिक पर्वत-शृंखला में प्राप्त हुए जीवावशेषों से नृतत्व शास्त्रियों की इस धारणा को बल मिला है कि मानव का विकास शिवालिक क्षेत्र में ही हुआ। इन जीवावशेषों के काल-निर्धारण से पता चलता है कि आदिम मानव अति प्राचीन काल में प्रथम आंतरिक हिमयुग की समाप्ति से लेकर बाद के तीन युगों तथा दो आंतरिक हिमयुगों तक रहता रहा। शिवालिक क्षेत्र तथा हिमालय की

1. Racial Affinities of Early North Indian Tirbes—
   Sudhakar Chattopadhyaya, pp. 4-5
2. डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी—हिन्दू सभ्यता, दिल्ली, 1958, पृ० 9
3. राम किशोर शर्मा— संसार की प्राचीन सभ्यताएं तथा भारत से उनका सम्बन्ध—कलकत्ता, 1962, पृ० 33
4. R.C. Majumdar- History and Culture of India, Vedic Age, London, 1952, P. 8

पहाड़ियों में प्राप्त पाषाण युग के अवशेषों ने आदि मानव की इस क्षेत्र में उपस्थिति को पुष्ट किया है।

सन् 1951 में ओलाफ प्रफर ने नालागढ़ क्षेत्र में पाषाण युग के औज़ार खोज निकाले थे। इनमें से गोल पत्थर के औज़ार अधिक मज़बूत तथा उपयोगी बताए जाते हैं।[1] कांगड़ा में व्यास तथा बाणगंगा के किनारे भी महत्त्वपूर्ण औज़ार प्राप्त हुए जो आदि मानव के इन क्षेत्रों में विद्यमान होने की पुष्टि करते हैं। कृष्णा स्वामी तथा अमलेन्द्र गुहा ने बिलासपुर क्षेत्र से तथा डॉ० जी० सी० महापात्र ने कांगड़ा से जिस प्रकार के पाषाणकालीन गंडासे तथा अन्य हथियार खोज निकाले हैं, प्रायः वैसे ही सिरमौर के सुकेती और जम्मू में कथुआ क्षेत्र के पास रावी नदी की घाटी में मिलने की जानकारी प्राप्त हुई है।[2] ये जीवावशेष तथा हथियार छः लाख वर्ष पूर्व से लेकर अब से लगभग छः हज़ार वर्ष पूर्व तक की मानवयात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हैं। सिंधु सभ्यता के अवशेषों की खुदाई यद्यपि अभी तक हिमाचल प्रदेश के क्षेत्रों में नहीं हुई है परंतु इस सभ्यता के लोग इन क्षेत्रों में न आए हों, ऐसा होना संभव नहीं है।

गेहूं के उगाए जाने के संबंध में वनस्पति-शास्त्रियों का मत है कि इस अनाज की खेती सर्वप्रथम हिमाचल और हिंदूकुश की तलहटी में पंजाब के किसी स्थान पर हुई होगी। लाहुल क्षेत्र के सिसू गांव में, वहां के ग्राम-देवता राजा घेपन (गेपङ्) के संबंध में प्रसिद्ध है कि लाहुल घाटी में जौ तथा गेहूं के अनाज वही लाया था। घेपन के भंडार में गेहूं के एक बहुत बड़े दाने का अब भी उपलब्ध होना बताया जाता है। बहुत संभव है कि लाहुल क्षेत्र में अनाज पर्याप्त देर से बोया जाने लगा हो परंतु पांडवों से संबंधित अनेक स्थानों की किम्वदन्तियों से पता चलता है कि पांडव अपने वनवासकाल में उस क्षेत्र में गए थे। इन उद्धरणों से

1. H.D. Sankalia—Prehistory and Protohistory of India, Bombay, 1962, p. 16
2. देखिए—
   (i) Important Stone Age discoveries in kangra District—The Tribune, Ambala 21st Nov., 1963 p. 3, Col. 3
   (ii) Guha, Amlendu—Central Asia, Delhi 1970, pp. 16-17
   (iii) Stone Age Sites discovered in J & K.—The Tribune, Ambala, 14th Aug., 1966 and The Times of India—6th March, 1969

पता चलता है कि जौ तथा गेहूं की खेती सर्वप्रथम हिमालय के कुछ भागों में हुई होगी और आंतरिक हिमालय के भागों में भी उसे बीजने की जिज्ञासा लोगों में जगी होगी। सिंधु-सभ्यता के लोग गेहूं की खेती करते थे, यह भी निश्चित हो चुका है परंतु इस सभ्यता के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए देवदार के शहतीरों की प्राप्ति से पर्वतीय लोगों से इसका संबंध पुष्ट हुआ है।[1]

कुछ विद्वानों का विचार है कि आग्नेय परिवार की जातियां यथा, कोल, किरात, किन्नर, नाग तथा निषाद आदि इन क्षेत्रों के मूल निवासी थे। कोलों[2] का हिमालय के उत्तरपूर्वी दर्रों से प्रवेश तथा बाद में द्रविड़ों का आकर उन्हें जंगलों व पहाड़ों में खदेड़ना, इतिहासकारों का इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न है। यही बात हिमालय क्षेत्र की बोलियों पर विभिन्न भाषा-परिवारों के प्रभाव को पुष्ट करती है।[3]

कुछ विद्वानों का मत है कि हिंदूधर्म में नाग तथा गणेश आदि जीव तथा पशु देवता का समावेश कोल जाति के कारण ही हुआ।[4] इस जाति के लोग झुंडों में रहते थे तथा उनका मुख्य व्यवसाय पशुपालन तथा कृषि था। किरात तथा खश कोल जाति के लोगों से बाद में हिमालय में आए। महाभारत में किरातों को हिमालय का निवासी बताया गया है।[5] मनु ने यद्यपि इन्हें क्षत्रिय बताया है परंतु कर्मच्युत हो जाने पर ये लोग शूद्र हो गए, ऐसा लिखा है।[6] हड़प्पा-सभ्यता के प्राचीन अवशेषों में प्राप्त मूहरों में अंकित नाग-देवता तथा उसे घुटनों के बल झुककर पूजा कर रहे व्यक्तियों को देखने से पता चलता है कि नाग जाति का अस्तित्व उस काल में भी रहा है।[7]

महाभारत काल में तो नाग एक शक्तिशाली जाति रही है तथा अर्जुन ने हरिद्वार के नाग राजा वासुकि की कन्या उलोपी से विवाह किया था और

1. सत्यदेव विद्यालंकार—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, मसूरी, 1960, पृ० 73
2. रामकिशोर शर्मा—संसार की प्राचीन सभ्यताएं तथा भारत से उनका सम्बन्ध, कलकत्ता, 1962, पृ० 194
3. R. D. Banerji—Prehistoric, Ancient and Hindu India, Bombay, 1950, P. 8
4. विमलचन्द्र पाण्डेय—प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1958, पृ० 63
5. महाभारत, II, 58, 8-10
6. मनुस्मृति 10/43-44
7. Radhakamal Mukhrjee—The Culture and Art of India, Landon, 1959, P. 52

तक्षक नामक नाग को हराया था। अनिल सरकार का मत है कि तक्षक ने बाद में हिमालय में अपना राज्य स्थापित किया।[1] कालांतर में नाग जाति अन्य जातियों में विलीन हो गई परंतु कांगड़ा तथा अन्य शिवालिक-क्षेत्रों के कुछ ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपने नाम के आगे 'नाग' गोत्र लिखते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि नागों ने अपनी महत्ता को बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया।

खशों को आर्यों की ही एक शाखा माना जाता है। हिमालय के भीतरी भागों में खशों का अस्तित्व अभी तक भी विद्यमान है। जहां शिवालिक-क्षेत्रों में राजपूत लोग अपने आपको खश कहलवाना पसन्द नहीं करते, वहां कुल्लू क्षेत्र के राजपूतों में भी यह शब्द सम्मानसूचक नहीं माना जाता परन्तु शिमला, किन्नौर, सिरमौर तथा इन क्षेत्रों के साथ लगने वाले उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में यह सम्मानसूचक संबोधन है। कुल्लू के राजपूत यद्यपि आचार-विचार तथा सामाजिक परंपराओं में इन क्षेत्रों के लोगों से भिन्न नहीं हैं परन्तु इस प्रकार का भेद किसी प्राचीन वर्ग-भावना का अवशेष माना जा सकता है। यदि 'कुल्लू' शब्द की व्युत्पत्ति 'कोल' अथवा 'कुलिन्द' से जुड़ी हुई हो, जैसा कि भाषा वैज्ञानिक रूप से बहुत सम्भव है तो इस भावना का अर्थ यह हुआ कि कुलिन्द लोग खशों से अलग वर्ग से संबंधित थे। 'कुनैत' अथवा 'कनैत' शब्द की व्युत्पत्ति ढूंढ़ने के लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार की ऊहापोह से काम लिया है। कुछ इसे 'कन्या+हेत' अर्थात् 'कन्या का हित चाहने वाले' अथवा कन्या की हत्या करने वाले तथा अन्य खेतिहर वर्ग से इसका संबंध मानते हैं।

कुछ अन्य लोगों का मत है कि यह शब्द 'कुनीत' अर्थात् बुरी नियत से बना है। सिन्धु सभ्यता के संबंध में अनुमान है कि यह सभ्यता पूर्व में सरस्वती नदी के ऊपरी भाग तथा उत्तर में सतलुज-व्यास नदियों के भीतरी भाग तक फैली हुई थी। इन्हीं क्षेत्रों से देवदार की लकड़ी तथा जंगली बकरों आदि के सींग अन्य क्षेत्रों में भेजे जाते होंगे। देवदार के शहतीरों के स्तंभ मिलने का यही कारण है। ऐसा अनुमान है कि हिमाचल प्रदेश के भीतरी भागों तक इस सभ्यता का प्रभाव रहा होगा और वर्तमान समय में भी जीवंत संस्कृति में इस सभ्यता के कतिपय अंश अवशिष्ट होंगे परंतु क्योंकि उक्त सभ्यता के संबंध में कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं अतः इस सभ्यता के लोगों के जनजीवन के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कहा जाना संभव नहीं है।

सिंधु सभ्यता के संबंध में अन्तिम प्रमाण उपलब्ध हो जाने पर वैदिक संस्कृति तथा हिमालय क्षेत्र की प्राचीन जातियों पर भी विश्वस्त रूप से धारणा बना

1. Sarkar Anil—'Snake Culf in Indian Religion' Modern Review, May 1962, P. 391

पाना संभव होगा। इस क्षेत्र की लोकसंस्कृति का अध्ययन करने पर पता चलता है कि इस क्षेत्र में कोल जाति के लोगों का पर्याप्त प्रभाव रहा है। उनके बाद संभवतः किरात जाति के लोग इस क्षेत्र में आए। आसाम, भूटान, नेपाल तथा हिमालय के प्रायः समूचे क्षेत्र में किरात वर्ग के लोगों ने बड़ी-बड़ी बस्तियां बसाईं। इस जाति के लोग कश्मीर से मोहनजोदड़ो तक फैल गए।[1] ये पशुपालक थे तथा इनमें जन व्यवस्था थी।[2] खशों के साथ इस वर्ग के लोगों के युद्ध हुए और उन्होंने इन्हें दुर्गम स्थानों में पहुंचा दिया। खश तथा किरात वर्ग के लोगों का समझौता भी हुआ होगा अतः दोनों वर्गों की संस्कृति का मिश्रण हुआ। महाभारत में किरातों को हिमालय के निवासी बताया गया है।[3] इसी ग्रंथ के वनपर्व में किरातों तथा तंगणों के निवास का वर्णन मिलता है।

राहुल सांकृत्यायन का मत है कि किन्नरों और किरातों के संबंधों को ठीक प्रकार से बताना आसान नहीं है। उनका यह कथन उचित ही है कि किन्नरों का देश एक समय हिमाचल में गंगा के पठार से पश्चिम में सतलुज और चंद्रभागा (चनाव) के पठार तक फैला हुआ था और किरात गंगा के पठार के पूर्वी छोर को साथ समेटते हुए सारे नेपाल तक फैले थे। आज ये लोग चंबा में 'लाहौले', कुल्लू में 'मलाणा' कनावर (किन्नर), माणनीती के 'मारछा', अस्कोट (अलमोड़ा) के 'राज किरात' आदि नामों से जाने जाते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में आग्नेय परिवार की भाषाएं किरातों के वंशजों द्वारा ही बोली जाती हैं।

वास्तविकता यह है कि प्राचीन किराती बोलियों पर तिब्बती वर्मी भाषा परिवार की बोलियों का प्रभाव इस सीमा तक हो गया कि वर्तमान समय में दोनों परिवारों की भाषाएं एक ही जैसी प्रतीत होने लगीं अतः विद्वानों ने किन्नर तथा किरात एक ही वर्ग के लोग मान लिए। खश तथा नाग हिमालय की अन्य सशक्त जातियां हैं जिन्होंने अपनी सांस्कृतिक छाप हमारी संस्कृति पर छोड़ी है। इस संबंध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है।

खश हिमालय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जाति रही है। इन्हें विद्वान आर्य जाति की एक शाखा मानते हैं। इस शाखा के लोग मध्य एशिया से काशगर, हिंदूकुश, गिलगित—कश्मीर से होते हुए सारे हिमालय में फैले।[4] ताम्रयुग के

1. रामकिशोर शर्मा—संसार की प्राचीन सभ्यताएं तथा भारत से उनका संबंध, कलकत्ता, 1962, पृ० 192
2. राहुल सांकृत्यायन—ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, 1957, पृ० 24
3. महाभारत II, 58, 8-10
4. Evatt, G. Garhwalis, Calcutta, 1924, p. 18

आरंभ में यह जाति तरीम उपत्यका में निवास करती थी।[1] हिमाचल में खशधार, खशकण्ढी, काशापाट (खशपाट), कसौली (खशौली) आदि स्थानों को खश वर्ग के लोगों के साथ जोड़ा जा सकता है। यही नहीं, किन्नौर तथा शिमला क्षेत्रों के राजपूत अपने आपको इस वर्ग से संबद्ध मानते हैं। संभव है जिला शिमला के चौपाल क्षेत्र में प्रचलित खूंद-पद्धति खशों से संबंधित रही हो। यह जाति धनुष-बाण का अभ्यास करती थी जिसके अवशेष 'ठोडा' लोकनाट्य में अब भी विद्यमान है। इस लोकनाट्य में 'शाठा' व 'पाशा' दलों के योद्धा तीर-कमान से युद्ध करते हैं।

कुछ विद्वान् हिमालय में प्रचलित 'भूण्डा' उत्सव को इस वर्ग के लोगों का उत्सव मानते हैं।[2]

1. राहुल सांकृत्यायन—मध्य एशिया का इतिहास खंड-1, पटना, 1956, पृ॰ 73
2. मियां गोवर्धनसिंह—हिमाचल प्रदेश का इतिहास (अप्रकाशित)

पर्वतराज हिमालय

हिमालय की महिमा अनंत है । ऋग्वेद में 'हिमवंत'[1] पर्वत का संदर्भ वर्तमान हिमालय अर्थात् 'हिम वाले पहाड़' की ओर ही संकेत करता प्रतीत होता है। ऋग्वेद के आठवें मंडल में पर्वतों पर यज्ञ करने की महिमा बताई गई है तथा इंद्र द्वारा अस्थिर पर्वतों को स्थिर किए जाने का उल्लेख है। इसी ग्रंथ (3/53/1) में पर्वतों को इंद्र के समान स्थान दिया गया है। अथर्ववेद में 'हिमवंतः प्रसवंति सिंधौ समह संगमः' से हिमवंत से निकलने तथा सिंधु में मिलने वाली नदियों की ओर संकेत किया गया है।

पौराणिक साहित्य में हिमवत् पर्वत को देवता माना गया है। हरिवंश पुराण (1,18/15-24) तथा मत्स्यपुराण (13/8-9) में इस पर्वत की पत्नी का नाम पितृकन्या मैना बताया गया है तथा इनके दो पुत्रों कौञ्च तथा मैनाक और तीन पुत्रियों अपर्णा, एकपर्णा एवं एकपाटला के जन्म का संकेत अंकित किया गया है। इन तीनों कन्याओं का विवाह क्रमशः महादेव, असित तथा जैगीषव्य से हुआ। शिव तथा पार्वती के विवाह की कथा 'स्कंदपुराण' में रोचक ढंग से दी गई है। इस संदर्भ के अनुसार वह हिमालय तथा मैना की कन्या तथा शिवजी की पत्नी थी। पार्वती का विवाह नारद के सुझाव पर शंकर[2] से हुआ। पहले इसका रंग काला था परंतु अनरकेश्वर तीर्थ में स्नान करके पूजा करने पर इसे गौरवर्ण प्राप्त हुआ था।

पद्मपुराण में बताया गया है कि एक बार पार्वती ने कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर एक सुंदर स्त्री की कामना की जिसके परिणामस्वरूप अशोक सुंदरी नामक कन्या प्रकट हुई। पार्वती ने इस कन्या को अपनी पुत्री माना तथा बाद में इसका विवाह नहुष नामक राजा के साथ हुआ। बाद में नहुष श्रापवश सर्पयोनि को प्राप्त हुआ और द्वैतवन के पास एक गुफा में रहने लगा। पांडव अपने वनवास के

1. मंडल 10, सूक्त 121, मंत्र 4
2. स्कन्द 5/1/30 तथा 1/3/3-12

समय द्वैतवन में कुछ देर के लिए ठहरे और युधिष्ठिर द्वारा नहुष के प्रश्नों के ठीक उत्तर दिए जाने पर उसकी शापमुक्ति हुई। इस प्रकार की अनेक कथाएं, जिनका संबंध हिमालय से है, पुराणों में वर्णित हैं।

हिमालय के वर्तमान भूगोल तथा चट्टानों की बनावट को देखते हुए यह अनुमान लगाना कठिन है कि इस पर्वत की वास्तविक आयु क्या है तथा इसके दामन में मानव सभ्यता का विकास कब प्रारंभ हुआ होगा। आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में पशुधन की कल्याणकामना के अनेक उदाहरण हैं। शंबर से युद्ध, इंद्र द्वारा पर्वतों का स्थिरीकरण, सोमरस का तैयार किया जाना तथा किरात और अन्य पर्वतीय जातियों के साथ युद्ध इस बात की पुष्टि करते हैं कि आर्यों को अपने लिए क्षेत्र प्राप्त करने के लिए कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वृत्रासुर-इंद्र संग्राम में इंद्र की विजय का वर्णन ऋग्वेद में व्यास व शुतुद्री नदियों के अवरुद्ध मार्गों को खोलते हुए किया गया है। इस संबंध में ऋग्वेद (3/3/33) का उद्धरण द्रष्टव्य है—

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते
हासमाने गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे
विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥

अर्थात् जलयुक्त प्रवाह वाली विपाशा और शुतुद्री नदियां पर्वत के अंग से निकलकर समुद्र से मिलने की कामना वाली होकर अश्वशाला में विमुक्त अश्व के समान स्पर्द्धावान् होती हुई, दो गौओं के समान सुशोभित होकर वेग से समुद्र की ओर चलती हैं।

हिमालय के अंतर्गत शिवालिक पर्वतमाला में अत्यंत प्राचीन जीवावशेषों की उपलब्धि ने इस क्षेत्र को सांस्कृतिक धरातल पर महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने में अभूतपूर्व सहायता प्रदान की है। करोड़ों वर्ष पुराने ये जीवावशेष जलजीवों, यथा मछली, कछुआ, दरियाई घोड़ा आदि तथा जंगली जानवरों यथा—हाथी, गैंडा तथा घोड़ा आदि के हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि हिमालय के दामन में मानव जीवन बहुत प्राचीन काल में आरंभ हो गया था तथा इससे पूर्व ये क्षेत्र पर्याप्त समय तक जलमग्न रहे थे। इस पर्वत की उत्पत्ति के संबंध में भूगर्भ-शास्त्रियों का मत है कि तिब्बत का पठार लगभग सात करोड़ वर्ष पूर्व प्रकट हुआ और एवरेस्ट का भाग आठ लाख से पांच लाख वर्ष पूर्व प्रकाश में आया।[1] वैदिक काल में लोगों को हिमालय में प्राप्त होने वाली औषधियों का ज्ञान था। ऋग्वेद में बताया गया है कि सोमलता मुंजवत पर्वत पर उत्पन्न होती है। अथर्ववेद (का० 5, सू० 4) में कुठ अथवा कुष्ठ को उपयोगी औषधि बताया

1. Mount Everest Tony Hogen, pp. 37-70

गया है तथा उसमें सोम की सभी विशेषताएं मिलने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

उदग जातो हिमवतः स प्राच्यांनीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युतमानि वि भोजिरे ।।8।।

तथा—

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तम् ।
कुष्ठेहि तवमनाशन तवमान नाशयन्नित ।।11।।

और—

देवेभ्यो अधि जातोसि सोमस्यासि सखाहित
स प्राणाया व्यानाय चक्षुषे में अस्मै मृड ।।7।।

स्पष्ट है कि वैदिक काल में इस पौधे से सोमरस तैयार किया जाता होगा तथा इसे लोग हिमवत से पूर्व की ओर ले जाते थे और बहुत पसंद करते थे। कुष्ठ अथवा कुठ लाहुल क्षेत्र में अब भी पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किया जाता है। सोमरस किस प्रकार का पेय था, इस संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है परंतु ऋग्वेद के नवम मंडल में इसका इतना अधिक वर्णन हुआ है कि उसे उस काल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पेय मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। इसी मंडल के एक सूत्र में कहा गया है कि सोम के घड़े भरे जाते थे तथा उसे छान कर तैयार किया जाता था। सप्त-सिंधु की सातों नदियों को सोम की अनुवर्तिनी कहा गया है।[1]

असुरों का नाश करने के लिए सोमरस महत्त्वपूर्ण उपादान था। उसे दूध में मिश्रित किया जाता था और स्वच्छ करने के उपरान्त पत्थर से कूटा जाता था। राहुल सांकृत्यायन सोम को भांग मानते हैं। वे अपने मत की पुष्टि में लिखते हैं—'तिब्बत में आज भी उसे 'सोम-राजा' कहते हैं। पठान लोग भांग को 'ओम' कहते हैं जो 'सोम' से 'होम' होकर बना है। सोम में दूध और मधु मिला कर सोमरस तैयार किया जाता था। दूधिया भांग अपने स्वाद के लिए हमारे यहां प्रसिद्ध है ही।'[2]

सोम को यदि हम भांग का पर्याय न भी मानें तो भी इतना तो निश्चित ही है कि आर्य लोग हिमालय के जिस क्षेत्र में रहते थे उसमें सोमरस तैयार करने के लिए उपयोग में लाई जाने वाली औषधियों की बहुलता थी। कुछ विद्वानों का विचार है कि सोमलता एक प्रकार की बेल होती थी, कुछ अन्य लोग

1. तवे मे सप्तसिन्धवः प्रशिषं सोम सिस्रते । (9/66/6)
2. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 48

कुकरमुत्ते के आकार के पौधे को सोमरस के लिए प्रयुक्त होना मानते हैं ।

'सोमसी' पत्रिका[1] में श्री मौलूराम ठाकुर ने सोमरस तैयार करने के लिए प्रयुक्त होने वाली चौसठ औषधियों के नाम बताए हैं । यह पेय 'चखटी' अथवा सुर (सूर) के नाम से अब भी कुल्लू क्षेत्र में भादों मास में जड़ी-बूटियां इकट्ठी करके तैयार किया जाता है । सुर अथवा सूर बनाने की विधि अत्यंत प्राचीन है तथा इन जड़ी-बूटियों को पर्वतशिखरों पर तलाश करना पर्याप्त अनुभव का कार्य है । जड़ी-बूटियों को कूट कर सुखाया जाता है तथा छोटे-छोटे खंडों में प्रयोग अथवा विक्रय हेतु तैयार किया जाता है ।

वर्तमान समय में इस पेय को सुविधाजनक तथा परंपरागत माना जाता है । उत्सवों पर इस पेय के लिए गांव के प्रत्येक घर में जाना शुभ माना जाता है । यह प्रथा प्रदेश के समस्त ऊपरी भागों में अब भी प्रचलित है । 'सोमरस' का शब्द लोक भाषा में 'सुरा' हो जाना भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी युक्ति संगत प्रतीत होता है ।

ऋग्वेद में सोम को मौजवत[2] भी कहा गया है । यह संकेत है कि मुजवत पर्वत पर सोमबूटी बहुतायत से उत्पन्न होती थी । इसे 'गिरिष्ठ' भी कहा गया है । ऋग्वैदिक काल में आर्यों का निवास-स्थान सिंधु से लेकर सरस्वती नदियों के मध्य फैला हुआ था । सतलुज, सरस्वती, घग्घर व मार्कण्डेय नदियों के किनारे उनकी बड़ी-बड़ी बस्तियां थीं । यह निश्चित है कि इन क्षेत्रों के समीपस्थ पर्वतीय भागों में यह बूटी बहुतायत से उपलब्ध होती होगी क्योंकि सामान्य पेय को बहुत दूरस्थ स्थानों से मंगवाना संभव नहीं हो सकता । ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन हिमाचल में निवास करने वाले लोग इस जड़ी को उपलब्ध कराते होंगे ।[3] ऋग्वेद में सोमरस के अतिरिक्त सुरा नामक पेय का भी उल्लेख है ।[4] सोमरस के प्रेमी आर्य सुरा से कोई मोह नहीं रखते थे । सुरा हीन दृष्टि से देखी जाती थी । वसिष्ठ भी सुरा को पसंद नहीं करते थे । यह संदर्भ सोम व सुरा में भेद दर्शाता है ।

1. 'सोमसी'—अप्रैल, 1978, वर्ष 4, अंक 2, शिमला, पृ० 16-21
2. सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः ।—ऋ० 10/3/1
3. Ragazin, Zenai de A. Vedic India, London, 1915, pp. 170-71
4. हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाः ।
   ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥12॥ 8/2

   तथा—

   नसः स्वो दक्षो वरुणा ध्रुतिः सा सुरा मयुविमीदको अचितिः
   अस्ति ज्यायान् कनीयस उनारे स्वप्नशूचनेदनृतस्य प्रयोता ॥ऋ० 6/7/86

ऋग्वैदिक ऋचाओं से ऐसी भी आभास मिलता है कि धीरे-धीरे सुरा का प्रयोग बढ़ा था और लोग उसकी ओर आकृष्ट हुए थे। यह सर्वविदित है कि 'सुरा' अथवा 'सुर' का प्रयोग पेय के रूप में अब भी हिमालय के उपरि भागों में किया जाता है। लोग इस पेय को इसी नाम से जानते हैं। इसे किन्नौर तथा अन्य स्थानों में 'रक' (अर्क) नाम से भी जाना जाता है। लाहुल, स्पिति तथा किन्नर क्षेत्र में इसे 'छङ्' भी कहा जाता है। सोमरस तथा सुरा के बनाने की विधि में किसी प्रकार का सम्मिश्रण हुआ या नहीं, इस बात के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यदि राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार 'सोम' प्राचीन भांग का नशा था तो उसका प्रयोग पेय के रूप में पर्वतीय भागों में अवशिष्ट होना आश्चर्य की बात न होती परंतु वर्तमान समय में 'सुरा' अथवा 'सूर' के विभिन्न प्रकार ही इस भू-भाग में प्रचलित हैं। 'चखटी' अथवा कुल्लुई सुरा जड़ी-बूटियों को कूटकर कपड़े में छानकर तैयार की जाती है। इसमें चौसठ स्थानीय जड़ी-बूटियां डाली जाती हैं जिनका ज्ञान केवल अनुभवी व्यक्ति को ही होता है। यह कूटी हुई सामग्री छोटे-छोटे टुकड़ों जिन्हें, 'डली' कहा जाता है, में काटी जाती है तथा इसका भाव लगभग चौदह रुपये प्रति किलोग्राम है। बाद में इन डलियों को बर्तनों में डालकर पानी में रखा जाता है तथा विशेष विधि से पेय के रूप में परिवर्तित किया जाता है। यह पेय इतना हलका होता है कि लोग इसके कई गिलास पी चुकने के पश्चात् भी एकदम नशा अनुभव नहीं करते। इन चौसठ जड़ी-बूटियों में भांग का पौधा अथवा उसकी पत्तियां या अन्य भाग सम्मिलित नहीं किए जाते हैं।

स्पष्ट है कि भांग सोमलता नहीं थी। वैसे भी यह उल्लेखनीय है कि भांग का पौधा होता है, बेल नहीं। किन्नौर क्षेत्र में छङ्, जिसे लोग अब 'घंटी' भी कहने लगे हैं, 'चूल्ही' अथवा खुमानी के फलों अथवा अनाज (ओगला) से बनाई जाती है। प्रायः प्रत्येक परिवार 'सुर' निकालना जानता है और उसकी तीखी मात्रा का ज्ञान भी रखता है। इसीलिए उसके दो प्रकारों 'मूहरी' तथा 'राशि' में मूहरी का भाव कहीं अधिक होता है।

जल-प्रवाह

नीलमत पुराण में कश्मीर क्षेत्र के इतिहास व भूगोल का वर्णन उपलब्ध है। उक्त पुराण में इस क्षेत्र की प्रमुख नदियों के नाम इस प्रकार हैं—वितस्ता (झेलम), विशोका, हर्षपथा, चंद्रावती आदि। वितस्ता को हिमालय की पुत्री उमा की संज्ञा दी जाती है। इस क्षेत्र में गौरी शिखर को उमा की तपस्यास्थली माना जाता है। वितस्ता का जन्मदिन भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी माना जाता है। जन्म-दिन का उत्सव त्रयोदशी से तीन दिन पहले तथा तीन दिन बाद तक मनाया जाता है। यह पर्व वितस्ता में स्नान के लिए अत्युतम माना जाता है। वितस्ता में सान्द्रन, व्रिग, आरपथ तथा लिदर नदियां मिलती हैं।

ऐसा विश्वास कि अति प्राचीनकाल में संपूर्ण काश्मीर क्षेत्र एक समुद्र था जिससे पानी का बहाव पर्वत-शृंखलाओं को काटकर धीरे-धीरे निचले क्षेत्रों की ओर हुआ। उस समय के बाद यहां मानव-जीवन आरंभ हुआ परंतु पानी के बहाव को द्रुतगामी तथा सुव्यवस्थित बनाने के लिए जलमार्गों का निर्माण किया गया। इन छोटे जलमार्गों को सेतु अथवा 'सथ' कहा जाता था और अब इन्हें 'कुलावा' कहा जाता है।

पहाड़ी भाषा में प्रचलित शब्द 'कूलह्' काश्मीरी 'कुलावा' शब्द का ही अपभ्रंश है। बहुत संभव है आरंभ में कश्मीरी भूमि को जल से उबारने के लिए वितस्ता का उपयोग एक कूलह् के रूप में ही किया गया हो। नीलमत पुराण (300-301) श्लोक में काश्यप ऋषि को वितस्ता से यह निवेदन करते हुए बताया गया है कि वह हल-मार्ग (कम-से-कम चौड़े रास्ते) से बहे ताकि कश्मीर भूमि सरोवर न बन जाए। जहां वितस्ता में विशोका तथा रामव्यार नदियां मिलती हैं उस संगम का नाम 'गंभीरा' है। यहां यह उल्लेखनीय है कि हिमाचल प्रदेश के बिलासपुर जिला में भी दो छोटी नदियां 'गंभर' तथा 'गंभरोला' नाम से पुकारी जाती हैं तथा अन्य अनेक के नाम अन्य स्थानों की प्राचीन नदियों से मिलते-जुलते हैं जो इस बात का संकेत देते हैं कि अति प्राचीनकाल में मानव कबीले जिन स्थानों की ओर बढ़ते रहे होंगे, वहां के नदी-नालों के नाम अपने

पूर्व प्रदेशों के जलस्रोतों व नदी-नालों के नामों की स्मृति में उसी प्रकार से रखते गए होंगे। यही बात मानव बस्तियों अर्थात् ग्रामों के नामों के संबंध में भी कही जा सकती है। प्राचीन लोक-संस्कृति तथा मानव इतिहास को समझने के लिए इन अंतःसाक्ष्यों का विस्तृत अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। अगले पृष्ठों में हम इसी प्रकार के कतिपय नदी-नामों पर विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

'कुल्या' कूल्ह अथवा कुलावा का ही प्राचीन शब्द है जिसे हमारे धर्मग्रंथों में संस्कृत भाषा में सम्मिलित किए जाने के संकेत मिलते हैं। कश्मीर घाटी की सुरेश्वरी नदी कुल्लू के 'सरवरी' के कितने नाम-साम्य वाली स्रोतस्विनी है, यह पाठक स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं।

भागवत पुराण (5/10/17) में कहा गया है कि 'शतद्रु, चंद्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्विनी, विश्वेति महानद्यः।' अर्थात् सतलुज, चिनाव, मरुद्वृधा , झेलम तथा असिक्विनी (असिक्नि) महानदियां हैं। वर्तमान हिमाचल प्रदेश की मुख्य नदियां इरावती (रावी), विपाशा (व्यास) शतद्रु (सतलुज), रावी व चिनाव के बीच बहने वाली नदी देविका जिसे 'उमा' का रूप माना जाता है; चंद्रभागा, जिसे लाहुल में चंद्रा तथा भागा नाम की दो अलग नदियों के नाम से जाना जाता है तथा जो चंबा-क्षेत्र में प्रवेश से पूर्व ही चिनाव के नाम से जानी जाती है; पब्बर तथा तौंस (प्राचीन तमसा), यमुना तथा गिरि-गंगा हैं। इनके अतिरिक्त अनेक छोटी नदियां जिन्हें स्थानीय भाषा में 'खड्डें' कहा जाता है, विभिन्न क्षेत्रों में लोगों की जल-संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। इनके नाम यथास्थान दिए गए हैं। इन नदियों ने समय-समय पर अपने रास्तों को बदला है अतः इनके वैदिक कालीन पथों की जानकारी संभव नहीं है परंतु अनेक वैदिक नदियां अब तक भी उन्हीं अथवा अपने अपभ्रंश नामों के साथ खड्डों अथवा छोटी नदियों के रूप में यत्र-तत्र बह रही हैं।

यह निस्संदेह दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे धर्मशास्त्रों में तैंतीस करोड़ नदियों के विद्यमान होने की बात लिखी गई है परंतु इनके नाम किसी भी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं हैं, यहां तक कि संपूर्ण भारतवर्ष की तैंतीस नदियों के नामों का विश्वसनीय उल्लेख भी शायद ही किसी ग्रंथ में उपलब्ध हो। ऐतरेय ब्राह्मण (9/14) में उत्तर कुरु की स्थिति हिमालय पर्वत से परे अर्थात् दूसरी ओर बताई गई है। उसे 'परेण हिमवंतं' कहा गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि वर्तमान कश्मीर ही उत्तर कुरु का क्षेत्र था। उत्तर कुरु को पुराणों में देवक्षेत्र अर्थात् देवताओं का निवासस्थान कहा गया है।

उत्तरकुरु का क्षेत्र यदि वर्तमान काश्मीर था तो वह ही आर्यों का आदि निवासस्थान होना चाहिए।

सप्तसिंधु

कुछ विद्वान सप्तसिंधु को ही आर्यों का मूल स्थान मानते हैं।[1] उनका तर्क है कि प्राचीन उपलब्ध साहित्य में कहीं भी आर्यों के अन्य देश से आने का वर्णन नहीं है तथा वेदों में वर्णित सभी नदियां भारत की ही हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलुज), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाव), मरुद्वृद्धा (चिनाव व झेलम के बीच की मरूर्वावन नामक सहायक नदी), वितस्ता (झेलम), सुषोमा (सोहन) तथा आर्जीकीया (व्यास)[2] आदि सभी नदियां वर्तमान भारतदेश के इतिहास से संबद्ध रही हैं।

महाभारत में हिमालय को आर्यों का आदि देश माना गया है। यद्यपि यह उक्ति स्पष्ट घोषणा के रूप में नहीं है परंतु यह कथन स्वतः स्पष्ट है कि—

> हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः
> अर्धयोजनविस्तारः पंचयोजनमायः।
> परिमण्डलयोर्मध्ये मेरूरुत्तम पर्वतः।
> ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥
> ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू।
> प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ्॥

इस श्लोक के अनुसार हिमालय में एक योजन चौड़ा और पांच योजन घेरे वाला मेरु विद्यमान है जहां मनुष्य की उत्पत्ति हुई तथा यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियां निकलती हैं और इसी स्थान पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। मेरु को कुछ विद्वान मध्य एशिया में स्थित मानते हैं और इसका संबंध वर्तमान पामीर श्रृंखला से जोड़ते हैं।[3] उनका कथन है कि आर्यों

1. परमानंद पटेल, उत्तर ध्रुव से गंगा, दिल्ली, 1960, पृ० 1
2. इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
   असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीय शृणुह्य सुषोमया॥
   ऋ० 10/75/5
3. वायुपुराण, अध्याय 34, श्लोक 25-33

की एक शाखा कश्मीर की ओर मुड़ी तथा हिमालय पर्वत के विभिन्न स्थानों पर फैली और दूसरी ईरान, अफगानिस्तान होती हुई इस देश में आई। यही शाखा कालांतर में सिंधु प्रदेश पहुंची और वैदिक आर्यों के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस प्रकार यह अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं है कि आर्यों की वैदिक शाखा से पूर्व जो वर्ग काश्मीर होता हुआ हिमालयक्षेत्र में नेपाल तक फैल गया था उसकी संस्कृति तथा जीवन-पद्धति में उतना अधिक अंतर नहीं आया जितना कि वैदिक आर्यों के विभिन्न स्थानों में भ्रमण के कारण उनकी जीवन-पद्धति में दृष्टिगोचर हुआ। यदि इस धारणा को स्वीकार कर लिया जाए तो भी यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हिमालय क्षेत्र में निवास करने वाले आर्य वर्ग की सांस्कृतिक मान्यताएं पूर्ववैदिक हैं और उनके अध्ययन से पूर्व वैदिक विचार-धारा व मान्यताओं का पता लगाने में सहायता मिल सकती है।

सिंधु देश में आर्यों का सामना उस वर्ग के लोगों से हुआ जो अत्यंत सभ्य तथा प्रगतिशील थे। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो तथा रोपड़ व चण्डीगढ़ तक इनके भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन्हें ही सिंधु सभ्यता के मूल उद्घोषक कहा जाता है। धीरे-धीरे यह वर्ग पीछे हटता गया, पर्वतों की ओर बढ़ा और इस प्रकार सप्तसिंधु के क्षेत्र का विस्तार हुआ। उस समय हिमालय में भले ही आर्यों का कोई अन्य वर्ग कश्मीर होता हुआ पहले ही निवास कर रहा हो परंतु किन्नर, कोल, किरात, नाग तथा यक्ष और पिशाच आदि जातियों के लोग भी यहां निवास कर रहे होंगे। यदि इन वर्गों को आर्यों की पहली शाखा से भी सम्बद्ध मान लें तो भी यह धारणा निर्मूल नहीं है कि आर्य वर्ग की इस शाखा की संस्कृति में स्थानीय लोगों के रहन-सहन का इतना अधिक प्रभाव हो गया था कि इन्हें अलग-अलग नामों से पुकारा जाने लगा।

ऋग्वैदिक आर्य सुसंस्कृत थे और अपनी संस्कृति को बनाए रखने के लिए उनके पास युद्ध-कौशल तथा नीति-निपुणता पर्याप्त मात्रा में थी। वे आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च थे परंतु मोक्ष के लिए ही समग्र जीवन का उपयोग नहीं करते थे बल्कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को समान दृष्टि से ग्रहण किए हुए थे। आर्य अपने शत्रुओं को 'दस्यु' अथवा 'दास' कहते थे। ऋग्वेद[1] में इन दस्युओं का अधिपति शम्बर बताया गया है।

1. भिनत्पूरा नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो।
अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत।
महो धनानि दयमान ओजसा विश्वा धनान्योजसा।।

ऋ० 1/130/7

हिमालय क्षेत्र में शम्बर के सौ दुर्गों का वर्णन है। अन्य पर्वतीय राजा चुमुरि, धनि, शुष्ण, अशुष तथा पिप आदि थे जो शम्बर के समकालीन थे। शम्बर के प्रतिद्वन्द्वी आर्य राजा दिवोदास, जो भरत कुल से था, का राज्य मैदानी भाग में परुष्णि (रावी) तथा शुतुद्रि-विपाश (सतलुज-व्यास) के मध्य भाग में फैला हुआ था। दिवोदास तथा शम्बर का युद्ध चालीस वर्ष तक चला। यह युद्ध मैदानी भाग में ही नहीं वल्कि पर्वतीय क्षेत्रों में भी हुआ।[1]

महापंडित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि 'जिस पहाड़ी जाति ने आर्यों को लोहे के चने चबवाये, वह कांगड़ा के पहाड़ों की ही होगी। लेकिन, वहां के आज के खश या हिंदी-आर्य निवासियों को हम तीन हजार वर्ष पहले ताम्र-युग की जाति नहीं कह सकते। तब यहां कौन जाति रही होगी? क्या सिंधु-जाति के ही लोग यहां भी रहते थे? इन पहाड़ियों के लिए भी कृष्ण और कृष्णयोनि (काला) शब्द यही बतलाता है कि शायद वह भी मोहनजोदरो-हड़प्पा के निवासियों के भाई-बंद थे।'[2] उनका अनुमान है कि ये लोग किरात थे। इन्हें ही मोन-ख्मेर कहा जाता है। इनकी मुख-मुद्रा मंगोल, तिब्बती तथा चीनियों से मिलने के कारण इन्हें लोग इन वर्गों में रखते हैं परंतु किरात वर्ग के अवशिष्ट लोगों की संस्कृति तथा भाषा का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये अलग ही जाति व धर्म के लोग रहे हैं जिनके रहन-सहन पर अब तिब्बती, चीनी तथा अन्य लोगों का प्रभाव हुआ है। यह कथन सही है कि लाहुल, स्पिति, किनौर, मलाणा, माणा-नीती के मारछा, अस्कोट (अल्मोड़ा) के राजकिरात, नेपाल के गुरंग, तमंग, नेवार, लिम्बू, याखा तथा राई आदि जातियों के तिब्बती-बर्मी तथा किराती भाषा-भाषी लोग प्राचीन किरात वंश से संबंधित हैं।

प्राचीनकाल में इन्हीं लोगों को 'मोन' कहा जाता था, इसमें संदेह नहीं है। प्राचीन किन्नौर का प्रमुख स्थान, जो किसी समय इस क्षेत्र की राजधानी रहा है और अब कामरू नाम से प्रसिद्ध है, कभी 'मोने' कहा जाता था। मोने नाम मोन जाति से संबंधित है, इसमें संदेह के लिए स्थान नहीं है। राहुल सांकृत्यायन

1. यः शम्बर पर्वतेपु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरधन्वविन्दत।
ओजायमानं यों अहि जघान दानूं शयानं सा जसान इन्द्रः ॥
ऋ॰ 11/2/12

तथा —

त्वं तदुकयमिद्र वर्हणकः प्रयच्छता सहस्रा शूर दर्षि।
अब गिरेर्दासि शम्बरं हनू प्रावो दिवोदासं चित्राभरूति ॥
ऋ॰ 5/6/26

2. ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद व दिल्ली, 1957, पृ॰ 81-82

ने अपने ग्रंथ 'ऋग्वैदिक आर्य' में लिखा है कि नेपाल के एक बड़े भाग को अब भी 'मोनयुल' अर्थात् 'मोनदेश' कहा जाता है। पहाड़ी भाषा की बोलियों में किराती भाषा के अनेक शब्दों की व्याप्तता यह सिद्ध करती है कि प्राचीनकाल में किरात जाति के लोग हिमालय के एक बड़े भाग में निवास करते थे परंतु संस्कृत के अनेक शब्दों का किराती बोलियों में समावेश होने के कारण इन बोलियों का शब्द-भंडार समृद्ध हुआ है।

दस्यु

दासों अथवा दस्युओं, जिन्हें शिवलिंग की पूजा करने तथा काले रंग का होने के कारण 'शिश्नदेव' (7/21/5) तथा 'कृष्णयोनि' (2/20/7) कहा गया है, ने इंद्र के साथ युद्ध किया। दिवोदास के पुत्र परुच्छेप तथा सुदास का वर्णन अनेक ऋग्वैदिक ऋचाओं में हुआ है। आर्यवर्ग के प्रसिद्ध नायक जिनका वर्णन दासों के साथ युद्ध में हुआ है, मुख्यतः बध्रयश्व, कुत्स, दिवोदास, सुदास, बृहद्रथ, तुर्वीति तथा दभीति आदि थे। ऋग्वेद में उनके पुरोहितों भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि का वर्णन भी हुआ है। शम्बर की ओर से नमुचि तथा शुष्ण के नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। शुष्ण शम्बर का सेनापति प्रतीत होता है तथा कुत्स आर्जुनेय दिवोदास का वीर सेनापति था।

ऋग्वेद में दस्युओं को असुर भी कहा गया है।[1] यह युद्ध चालीस वर्ष से भी अधिक समय तक लड़ा गया। ऋग्वेद (10/138/3) में पिप्रु नामक दस्यु को मायावी असुर भी कहा गया है जो इस बात का प्रमाण है कि दास अथवा दस्यु एवं असुर शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची माने जाते थे। चालीस वर्ष के इस युद्ध में लाखों वीर काम आए। इसी ग्रंथ (7/99/4) पर पता चलता है कि वर्ची नामक असुर ने भी दिवोदास से उदव्रज नामक स्थान पर युद्ध किया था तथा उसे 'सौ हजार वीरों के साथ' मारा गया था। सौ हजार का अर्थ एक लाख होता है। यदि यह उक्ति गणनामात्र को ही इंगित करती हो तो भी यह निश्चित है कि यह युद्ध पर्वत पर न होकर कहीं समतल भूमि में हुआ होगा।

राहुल सांकृत्यायन का यह अनुमान सही है कि, 'दासों की इतनी बड़ी सेना जहां एकत्रित हुई होगी, वहां आर्यों की भी सेना कम नहीं रही होगी, इसलिए उदव्रज किसी ऐसे स्थान में रहा होगा, जो पहाड़ में होने पर भी काफी समतल था, और वह स्थान कांगड़े के पहाड़ों में घुसने का द्वार होगा जैसे धमेरी (नूरपुर)।'[2]

1. ऋ० 4/16/12, 1/51/6, 2/19/4, 7/99/4 तथा 6/42/21
2. ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, दिल्ली, पृ० 100, 1957

उदब्रज के संबंध में तथ्यपूर्ण प्रमाणों के उपलब्ध हो जाने पर ऋग्वैदिक इतिहास पर अनूठा प्रकाश पड़ेगा तथा हिमाचल के साथ असुर वर्ग के लोगों के प्राचीन संबंधों की स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। दस्युओं के साथ हुए इस युद्ध को ऋग्वेद में दस्यु-हत्या भी कहा गया है। इसे 'शम्बर युद्ध' कहना अधिक उपयुक्त होगा। एक अन्य लड़ाई जिसे 'दाशराज्ञ युद्ध' कहा जाता है, का प्रधान नायक दिवोदास का पुत्र सुदास है। यह आर्यों का आंतरिक युद्ध था तथा अनेक वर्षों तक चला। इसमें दस राजाओं के नामों में समय-समय पर परिवर्तन भी हुए। यद्यपि दाशराज्ञ युद्ध भी ऋग्वैदिक काल की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है परंतु 'शम्बर-हत्या' के घटनाक्रम ने इस ग्रंथ का अधिकांश भाग प्रभावित किया है। इसे ही वास्तविक 'सुर-असुर संग्राम' कहा जा सकता है।

यदि यह सिद्ध हो जाए कि शम्बरवंश के लोग कालांतर में सप्तसिंधु के आर्यों में सम्मिलित हो गए तो हमारे पौराणिक इतिहास की एक चिरकाल से ग्रंथित पहेली सुलझ जाएगी। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान किन्नरक्षेत्रीय लोग बाणासुर तथा हिडिम्बा की संतान देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करते हैं, कुल्लू की हिडिम्बा देवी के आख्यान महाभारत में वर्णित हैं, लाहुल तथा चंबा में भी हिड़िम्बा एक प्रसिद्ध देवी के रूप में लोकमानस पर शासन करती रही है तथा निरमंड की हिडिम्बा (हिरबणी) नगर कोट (कांगड़ा) से आई हुई ऐसी राक्षसी देवी मानी जाती है जिसे अंबिका ने अपनी बहिन से स्थानीय निवासियों को नष्ट करने के लिए बुलाया था। अतः यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र की लोक-संस्कृति में एक ऐसी प्रच्छन्न धारा अब भी उपलब्ध है जिसे व्यक्त करने का प्रयत्न नहीं हुआ है। इस संबंध में शम्बरवंश पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

दाशराज्ञ युद्ध आर्यों की भीतरी लड़ाई थी अतः उसके संबंध में अधिक ऋचाएं संकलित किए जाने की आवश्यकता संभवतः न समझी गई हो परंतु 'शिश्नदेवों' जिन्हें 'कृष्णयोनि', 'असुर', 'दस्यु' तथा 'दास' भी कहा गया है, के साथ युद्ध ऐतिहासिक घटना थी जिस पर आर्य तथा अनार्य संस्कृतियों का भविष्य निर्भर करता था अतः उसका उल्लेख हमारे प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है। शम्बर के पिता का नाम ऋग्वेद (4/30/14) में कुलितर बताया गया है। शम्बर को इसीलिए 'कौलितर शम्बर' भी कहा गया है। शम्बर पर्वतों में निवास करता था (पर्वतेषु क्षियन्) तथा वह पर्वतों के भीतर मारा गया था।[1] उसे अपनी पुरियों सहित नष्ट किया गया था।

राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि—'शम्बर वृहत् पर्वत के भीतर रहता

1. ऋ० 4/30/14, 2/24/2, 2/12/11, 6/26/5, 4/26/3 तथा 7/99/5 आदि।

था। बृहत् पर्वत उस समय हिमालय को कहा जाता था। भरतों की भूमि उस समय परुष्णि (रावी) और शुतुद्रि-विपाश (सतलुज-व्यास) के बीच थी, इसके पास बड़ा पर्वत कांगड़े का हिमालय ही था। सिवालिक का छोटा पर्वत उसी से मिला हुआ था, जिसे अब भी अलग नहीं समझा जाता। छोटे पर्वत में नहीं, बल्कि बृहत् पर्वत में शम्बर के होने की बात यही बतलाती है कि उसके पुर सिवालिक के पीछे वाले बड़े पहाड़ों में थे। 19वीं शताब्दी के आरंभ तक अज्ञेय माना जाने वाला किला कांगड़ा उसी में पड़ता है। कोई आश्चर्य नहीं, यदि इस पहाड़ी ने शम्बर के पुर का भी काम दिया हो। किला कांगड़ा में इस शताब्दी के भयानक भूकंप के पहले बहुत-सी पुरातात्त्विक सामग्री थी, जिसमें से अधिकांश को भूकंप ने ध्वस्त कर दिया। यह ऐसे क्षेत्र में पड़ता है, जिसे भूकंप का क्षेत्र माना जाता है, इस शम्बर की अश्मन्मयी किसी अज्ञेय पुरी के अवशेष के पाने की आशा नहीं रखी जा सकती।'[1]

शम्बर की 90, 99 अथवा 100 पुरियों का उल्लेख ऋग्वेद की ऋचाओं में उपलब्ध है। उसकी निन्यानवे पुरियों को नष्ट करने तथा एक पुरी को दिवोदास अतिथिग्व को दिए जाने का उल्लेख ऋग्वेद के चौथे मंडल के 26वें सूक्त की तृतीय ऋचा में हुआ है।

एक अन्य स्थान (7/99/4) में वर्णित है कि इंद्र और विष्णु ने शम्बर की निन्यानवे पुरियों का नाश किया। यद्यपि ऋग्वेद में आर्य जाति को जादू जानने वाली नहीं बताया गया है परंतु दूसरे मंडल के ग्यारहवें सूक्त के दसवें श्लोक से उन्नीसवें तक में असुरों (दस्युओं) को जहां जादूगर तथा मायावी बताया गया है वहां उन्हें दानव भी कहा गया है। शम्बर की मृत्यु 'बृहतः पर्वतादधि' अर्थात् बड़े पर्वत के भीतर हुई तथा वह 'पर्वतेषु क्षियन्' अर्थात् पर्वतों में रहता था, आदि उक्तियां इस बात की पुष्टि करती हैं कि वह पर्वतों का राजा था परंतु कांगड़ा क्षेत्र के साथ उसका क्या संबंध रहा है, यह मात्र अनुमान की बात है। दिवोदास का दूसरा नाम अतिथिग्व मिलता है जो उसके अतिथि सेवक होने का प्रमाण देता है।

राहुल सांकृत्यायन का मत है कि उदव्रज स्थान, जहां शम्बर को मारा गया कहीं कांगड़ा के पास ही रहा होगा। उनका कथन है—'किसी विशेष जल के पास एक व्रज था, जिसे उदव्रज कहते थे। यह स्थान कांगड़ा जिले में ही कहीं रहा होगा, लेकिन तीन हजार वर्ष बाद भी उस स्थान का वही नाम रहे, यह जरूरी नहीं है।'

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 130वें सूक्त में दिवोदास के पुत्र परुच्छेप द्वारा

1. ऋग्वैदिक आर्य, वही, पृ० 102-103

शम्बर की नब्बे पुरियों के नष्ट होने का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि शम्बर उस समय का अत्यंत शक्तिशाली राजा था। उसके दुर्ग पत्थर के बने हुए थे। इस बात से स्पष्ट होता है कि पर्वतीय क्षेत्रों में बने प्राचीन दुर्गों, जिन्हें पांडवों के साथ सम्बद्ध किया जाता है, का निर्माण सम्भवतः इन्हीं दस्युओं ने किया था।

कांगड़ा दुर्ग शम्बर वर्ग के लोगों द्वारा बनाया गया हो, इस बात की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता परंतु इस प्रदेश की लोकसंस्कृति के अध्ययन से हम दस्यु वर्ग के लोगों के संबंध में जानकारी प्राप्त करने में कुछ ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं। ऋग्वेद (1/11/10-19) में दस्युओं को असुर तथा दानव भी कहा गया है। इस संबंध में हम आगे चर्चा करेंगे।

आर्य शंबर को हरा कर शुतुद्रि (सतलुज) को पार करके सरस्वती तथा यमुना नदियों की ओर बढ़े। सरस्वती[1] नदी के किनारे आर्यों के शक्तिशाली राजा ययाति ने अपने राज्य की नींव डाली। ययाति के पुत्र पुरु के नाम पर उनका वंश पुरुवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दाशराज्ञ युद्ध इस राज्य की स्थापना के बाद हुआ। इस युद्ध में सुदास की सेना का नेतृत्व उसके मंत्री वसिष्ठ ने तथा विपक्षी राजाओं की सेना का संचालन विश्वामित्र ने किया। यह युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के किनारे पर हुआ और इसके बीच अनु तथा द्रुह्यु राजाओं की सेनाएं नदी में डूब गईं तथा पुरु सेनाएं पराजित हुईं। हिमाचल की भूमि पर इस प्रकार आर्य वंश के राजाओं का अधिकार हुआ। आर्य ऋषियों ने दुर्गम स्थानों में जाकर आर्य संस्कृति का प्रचार-प्रसार तथा सांस्कृतिक समन्वय का कार्य किया। वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, गौतम, कपिल, जमदग्नि, परशुराम, शृंगी, नारद, दुर्वासा, पराशर, कृष्ण द्वैपायन, शुकदेव आदि कितने ही ऋषि संपूर्ण हिमाचल क्षेत्र में विभिन्न स्थानों पर तपस्या करते रहे।

जमदग्नि ऋषि को मलाणा तथा कुल्लू के अन्य अनेक गांवों में जमलू कहा जाता है तथा यह मान्यता है कि वे मलाणा में 'हामटा' नाम के स्थान से आए परंतु सिरमौर में रेणुका सरोवर के पास उन्होंने 'जामटा' नामक स्थान पर तपस्या की। 'ज' का 'ह' में बदल जाना पहाड़ी भाषा के भाषा-वैज्ञानिक रूप के अनुकूल है अतः दोनों सुदूर स्थानों का नाम एक ही हो तो आश्चर्य नहीं।

हैहयकुल के राजा कार्तवीर्य ने 'तत्तापानी' पर जमदग्नि ऋषि से कामधेनु को बलपूर्वक छीनने का यत्न किया था, परंतु रेणुका क्षेत्र में प्रचलित जनविश्वास के अनुसार सहस्र अर्जुन (कार्तवीर्य) ने यह कार्य वहां किया था। सुन्नी क्षेत्र का दानो (दानव) ग्रामदेवता यही 'सहस्रार्जुन' रहा होगा।

1. तत्र यज्ञे ययातिश्च महाराज-सरस्वती।
सर्पि पयश्च सुस्राव नाहुषस्य महात्मन॥ म॰ 9/42/33

असुर

प्राचीन भारतीय साहित्य में सुर तथा असुर जातियों का विशद वर्णन है। असुर शब्द की मूल धातु 'असु', 'जीवन' अथवा 'रहना' है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग मुख्यतः वैदिक देवताओं, यथा-वरुण, इंद्र, अग्नि, पुषन, रुद्र, सवितर, सोम तथा मारुत के लिए हुआ है।[1] बाद के साहित्य में 'देवों' की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से बताई गई तथा इस कारण उन्हें असुरों से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया। विष्णु पुराण में भी देवताओं की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से तथा असुरों की उनकी जांघ से बताई गई है। छांदोग्योपनिषद् (8/1/4) में असुर विरोचन का वर्णन आत्मा के प्रसंग में आया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सुर तथा असुर में यही मुख्य भेद था कि असुर जहां शरीर को ही आत्मा मानते थे वहां सुर आत्मा तथा शरीर का भिन्न अस्तित्व स्वीकार करते थे। ये दोनों वर्ग आर्य जाति से संबंध रखते थे परंतु सैद्धांतिक तथा दार्शनिक मतभेद के कारण अलग वर्गों में बंट गए। यह धारणा भी अपने में बलवती है कि असुर शैव मतावलंबी थे तथा सुर वैष्णव मत के अनुयायी थे।

वर्तमान असीरिया के प्राचीन निवासी असुरों के उल्लेख बहिस्तून के शिला-लेख में 'अथुरा' तथा 'अश्शुर' नाम से हुए हैं। पाणिनी की अष्टाध्यायी में असुरों को राक्षसों तथा पिशाचों के साथ आयुधजीवी संघ बताया गया है।[2] असुरों के संबंध में शतपथ ब्राह्मण में जो निर्देश प्राप्त हैं, उनके अनुसार वे मगध (दक्षिणी बिहार) तक फैले थे। उन्हें भारतभूमि में आर्यों से पूर्व आया हुआ माना जाता है। यही लोग आर्य (सभ्यता से पूर्व सिंधु-क्षेत्र में फैले थे और सिंधु-सभ्यता के निर्माता थे। कालांतर में असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, पिशाच आदि जातियां सामूहिक रूप से आर्यों के शत्रुओं के रूप में पुराणों में वर्णित हुई। महामहो-पाध्याय सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव का कथन है कि राक्षस, असुर, दैत्य तथा दानव वर्ग के वृषपर्वन् (दैत्य तथा दानवों का राजा) की कन्या शर्मिष्ठा का

1. I/12,5 तथा VI/16,29
2. पाणिनी सू० 5/3/117

विवाह पुरुवंशीय राजा ययाति से हुआ था। शाल्व लोग, जिनका राज्य अबु पहाड़ी के प्रदेश में था, दानव दैत्य कहे जाते थे। हिडिम्ब जिसकी बहिन हिडिम्बा का विवाह भीमसेन के साथ हुआ, राक्षसों का राजा था। घटोत्कच जो भीम तथा हिडिम्बा का पुत्र था और महाभारत के युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ा था, राक्षसों का राजा था। भगदत्त जो प्राग्ज्योतिषपुर का मलेच्छ राजा था और जिसके राज्य पर दानव दैत्य तथा दस्युओं का अधिकार रहा था, असुर था।

हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद तथा बलि श्रेष्ठ असुर राजा थे। रावण तथा बाणासुर भी असुर सम्राट थे। बाणासुर की पुत्री उषा का विवाह श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से हुआ था। वायु पुराण (70/51/65) में पुलस्त्य, पुलह तथा अगस्त्य ऋषियों की संतान को राक्षस संज्ञा से अभिहित किया गया है। कालांतर में असुर, दैत्य व दानव आदि संबोधन दुष्टता तथा शत्रुत्व रखने वाले लोगों के लिए प्रयुक्त होने लगे परंतु आरंभ में यह जातिवाचक संबोधन ही रहा होगा। ब्रह्मांड विष्णु पुराणों में अनेक ऐसे राजाओं के नाम उपलब्ध हैं जो वास्तव में इन वंशों से संबंधित नहीं थे परंतु उनके नीति विरुद्ध कृत्यों के कारण वे सुर अथवा दानव कहे गए हैं। इनमें कंस, जरासंध आदि प्रसिद्ध हैं। वैदिक साहित्य में असुरों, राक्षसों तथा पिशाचों को क्रमशः देवों, मनुष्यों तथा पितरों का शत्रु माना गया है। वृत्र, पिप्रु तथा शंबर और उसके वंशज दानव तथा असुर बताए गए हैं। वास्तव में ये सभी शब्द समानार्थी हैं और आर्य लोगों ने अपने शत्रुओं के लिए प्रयुक्त किए हैं।

ऋग्वेद में 'रक्षस्' शब्द का प्रयोग लगभग 50 बार हुआ है जो शत्रु तथा दुष्ट होने के कारण देवताओं द्वारा नष्ट किए जाने के लिए ही प्रायः हुआ है। 'असुर विद्या' से अर्थ यातुधान अर्थात् मायावी या ऐंद्रजालिक लिया गया है। यजुर्वेद में 'यतः' शब्द का प्रयोग राक्षसों की एक उपजाति के रूप में भी हुआ है। इन्हें रूप बदलने, विकराल रूप में, भयानक वेश में रहने तथा सींग लगा कर घूमने की दिशा में दक्षता प्राप्त थी। ये लोग रूप बदल कर पशु, पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा बन सकते थे तथा मांस खाते थे। ये मनुष्य शरीर में प्रवेश करके उन पर आक्रमण कर सकते थे। ये रात्रि में घूमते थे तथा मनुष्य जाति को दुःख पहुंचाते थे।

ऋग्वेद में अनर्शनि, अर्बुल, इलीविश, उरण, चुमुरि, त्वष्ट्र, पिप्रु, नमुचि, वृत्र, बल (ऋ० 10/67), वर्चिन तथा विश्वरूप आदि जिन असुरों के नाम वर्णित हैं उनमें से अनेक वही हैं जो दस्यु कहे गए हैं। इससे स्पष्ट होता कि दस्यु ही असुर थे। ऋग्वेद में कुछ देवों को 'असुर' कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जो देव 'मायावी' तथा 'गुह्य विद्या' जानते थे, उन्हें 'असुर' कहा जाता होगा। ज़ेंद अवेस्ता में असुर (अहुर) दिव्य शक्तियों

वाले व्यक्ति अथवा परमप्रतापी पुरुष को कहा जाता था। ज़ेंद अवेस्ता ही हमारे वेदों का मुख्य आधार है अतः 'अहुरमज़्द' (असुरमहत्) ज़रथुष्ट्र धर्म का संस्थापक होने का अर्थ यह हुआ कि उस काल में देवता ही असुर कहे जाते थे।

सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव[1] का कथन है कि कतिपय विद्वान यह मानते हैं कि जब आर्य सप्तसिंधु में आए तो उनमें 'सुर' तथा 'असुर' देवताओं की पूजा का प्रचलन था परंतु यह वर्ग दो भागों में विभक्त हो गया और असुर पूजक भाग ईरान की ओर बढ़ा जबकि सुर पूजक भारतवर्ष के क्षेत्र में रह गए।

परवर्ती साहित्य में इसी कारण 'असुर' शब्द नकारात्मक होता चला गया। वैदिक काल में अग्नि (ऋ० ?/3/4), इंद्र (ऋ० 1/174/1), त्वष्ट्र (ऋ० 1/110/3) तथा पूषन् एवं मरुत आदि देवताओं को असुर कहा गया है। छांदोग्य उपनिषद् की कथा के अनुसार विरोचन ने अपनी परछाईं को आत्मा समझ लिया अतः देह को ही आत्मा कहने वाले लोग 'असुर' कहलाए।

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश, पृ० 712-713

पिशाच

हिमालय के सांस्कृतिक इतिहास में पिशाच महत्त्वपूर्ण हैं। कन्या को बलपूर्वक भगा कर विवाह करने की प्रथा को पिशाच विवाह परंपरा कहा जाता है, भूत-प्रेतों के-से कृत्यों को पिशाचकृत्य कहा जाता है तथा पूर्वी, मध्य एवं पश्चिमी पहाड़ी बोलियों पर दरद-पैशाची का प्रभाव बताया जाता है और यही नहीं, राक्षसों को पिशाचों के साथ जोड़ कर दोनों वर्गों को दुरात्माएं तथा देहविहीन इच्छाधारी नारकीय योनियां बताया गया है। वास्तव में पिशाच मानव वर्ग था जिसका राजा निकुंभ था। नीलमत पुराण (205/278) के अनुसार निकुंभ धर्मात्मा था तथा उस पर कुबेर की कृपा थी।[1] उसने निकुंभ को पिशाचों को नियंत्रण में रखने का आदेश दिया था। निकुंभ के पांच करोड़ पिशाचों तथा उनके छः मास हिमालय में निवास करने और शेष छः मास तक हरी भूमि (शाद्वल) क्षेत्रों में निवास करने का वर्णन भी नीलमत पुराण में उपलब्ध है।

नाग तथा मानव इस जाति के लोगों के काश्मीर से चले जाने के बाद काश्मीर उपत्यका में बसे, इस बात का उल्लेख भी नीलमत पुराण में किया गया है।[2] उनके अन्य वीरों के नाम क्षीरकुंभ तथा विकुंभ भी बताए गए हैं।[3] इसी पुराण में लिखा गया है कि पूर्णमाशी के दिन पिशाचों को मानव घरों में प्रवेश करने से रोकने के लिए एक उत्सव का आयोजन करते थे जिसमें एक-दूसरे पर कीचड़ फेंक कर परिहास किया जाता था। यह प्रथा संभवतः अभी तक भी प्रकारांतर से हिमालय के किन्ही अंदरूनी भागों में विद्यमान हो। राजतरंगिनी में कल्हण ने इसी प्रकार के एक उत्सव 'आश्वयु' का उल्लेख किया है तथा इसे

1. निकुम्भो नाम धर्मात्मा कुबेरेण तु योजितः।
   चैव्यां याति सदा योद्धं पिशाचैर्बहुभिः सह ।।205-278
2. निकुम्भे निर्गते ब्रह्मन् तथा चैवाप्यनागते।
   षण्मासमध्ये कर्तव्या यात्रा देवगृहे नृपैः ।।840-1012/13
3. अक्षोटनागषट्कश्च श्येनो बहिसकाध्वरौ।
   क्षीरकुम्भो निकुम्भश्च बिकुम्भः समर प्रियः ।।953-1101/1102

अश्वज गाली उत्सव बताया है।[1] अन्य इतिहासकारों के अतिरिक्त अलबूनी ने भी 'पुहपी' नामक इसी प्रकार के परिहास उत्सव का वर्णन किया है।

कुछ विद्वनों का मत है कि 'पुहपी' शब्द का संबंध पिशाच से हो सकता है।[2] इस दिन लोग पशुओं से भी खेलते थे। पूर्णमाशी का त्यौहार हिमालय के क्षेत्रों में विशिष्ट माना जाता है। किन्नर क्षेत्र में इसे 'पौणासिग' कहा जाता है तथा भादों मास की पूर्णमाशी जिसे 'भद्रङ् पौणासिङ' कहा जाता है, पकवान बनाने, उत्सव में नाचने, भद्दी-अश्लील आवाजें लगाने के लिए अब भी प्रसिद्ध है। इस दिन पर्वत शिखरों के देवी-देवताओं, जिन्हें योगिनियां अथवा 'सौनिगे' कहा जाता है, को पकवानों से प्रसन्न किया जाता है परंतु गांव में उनके प्रवेश को रोकने के लिए उत्सव के अवसर पर अश्लील आवाजें लगाने की प्रथा भी प्रचलित है। 'पुहपी' उत्सव पिशाच वर्ग के लोगों के साथ संबद्ध रहा होगा न कि उन्हें गृहप्रवेश से रोकने का आयोजन।

अथर्ववेद में पिशाचों के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं और उन्हें मांस-भोजी बताया गया है।[3] ऋग्वेद में भी एक स्थान पर पिशाची शब्द का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में जहां पिशाच को मानव-शत्रु चित्रित किया गया है वहां आश्वालायन श्रौतसूत्र (10/7/6) के अनुसार उनकी विद्या को 'पिशाच विद्या' बताया गया है तथा अथर्ववेद के इस कथन की पुष्टि की गई है कि इस वर्ग के लोग किमिदन तथा यातुधान अर्थात् माया व जादू की विद्या में पारंगत थे। पर्वतीय क्षेत्रों की लोक-संस्कृति में पिशाच जहां एक दुरात्मा का सूचक है वहां उसे ऐसे व्यक्ति को दी गई गाली भी समझा जाता है जो घृणित तथा बहुत ही गंदा व स्वच्छता का शत्रु हो।

यह धारणा इस बात की द्योतक है कि पिशाच लोग व्यवहार में नीच हुआ करते होंगे तथा अपने शत्रुओं को बुरी तरह से मारते होंगे। तैत्तिरीय संहिता[4] में उन्हें देवों, मनुष्यों तथा पितरों का विरोधी बताए जाने का कारण यही हो सकता है। इक्ष्वाकु राजा त्रयारुण की माता पिशाच कन्या थी। इस उद्धरण से पता चलता है कि पिशाच मानव-जाति से संबंधित थे। असुरों, दानवों तथा राक्षसों के साथ उनका उल्लेख यद्यपि उन्हें देव तथा दानवों की विवादास्पद

1. राजतरंगिणी, 7/1551 तथा 4/710
2. कल्हणकृत राजतरंगिणी-रघुनाथ सिंह, पृ० 97
3. अथर्ववेद, 5/25/9, 2/18/1-5, 5/36/4, 12/1/50 तथा 8/2/12
4. देवा मनुष्या: पितरस्तेऽन्यत आसन्न सुर।
   रक्षांसि पिशाचास्तेऽन्यतः।
   —तैत्तिरीय संहिता कांड दो, प्रपाठक 4, अनुवाक 1
   (कल्हण कृत राजतरंगिणी में रघुनाथ सिंह द्वारा पृ० 97 पर उद्धृत)

अमानव योनियों से संबंधित करके अनिश्चय की अवस्था में डाल देता है परंतु इस बात के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं कि यह जाति कभी धरती पर मानव रूप में अवश्य निवास करती रही होगी।

विद्वानों का अनुमान है कि ये लोग उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश, दर्दिस्तान तथा चित्राल आदि क्षेत्रों में निवास करते थे तथा वर्तमान समय में काफिरिस्तान की दक्षिण की ओर लमगान प्रदेश में रहने वाले 'पशाई-काश्मिर' लोग इन्हीं के अवशेष हैं। वर्तमान लमगान क्षेत्र का प्राचीन नाम लम्याक है। बर्नेल का कथन है कि इस क्षेत्र के 'पशाई काफिर' प्राचीन पिशाच रहे हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि कच्चा मांस खाने की आदत होने के कारण ही आर्यों ने इन्हें पिशाच नाम से अभिहित किया होगा। डॉ० ग्रियर्सन का मत है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र के लोगों में कच्चा मांस खाने की आदत ही उनके इस नाम का कारण रही होगी। यही बात राक्षसों के संबंध में भी प्रचलित है।

विद्वानों का अनुमान है कि वर्तमान उत्तरी बलूचिस्तान के चगाई प्रदेश में रक्षानी जाति के लोग ही प्राचीन राक्षस रहे होंगे। 'रक्षानी' से 'राक्षस' रागस, रागसनी आदि शब्दों का संबंध अत्यंत समीप का है अतः इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है। वर्तमान किन्नौर में 'शुना' तथा 'रागस' वंशों के लोग, संभव है, प्राचीन राक्षस वर्ग से ही संबंधित रहे होंगे। ये गोत्र कतिपय खश परिवारों के अब भी विद्यमान हैं।

पाणिनी की अष्टाध्यायी में असुर पिशाच तथा रक्षस् जातियों का उल्लेख आयुधजीवी संघों में हुआ है। असुरों को मध्य एशिया का निवासी माना जाता है तथा उनका संबंध वर्तमान असीरिया से जोड़ा जाता है। इन्हें सिंधुघाटी की सभ्यता का जनक माना जाता है। बहिस्तून के शिलालेख में इनका निर्देश 'अथुरा' तथा 'अश्शुर' के नाम से हुआ है। असुरों का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है।

अथर्ववेद (5/29/5) में बताया गया है कि कच्चा मांस खाने की प्रथा के कारण इस वर्ग के लोगों को 'पिशाच' नाम प्राप्त हुआ। ऐसा अनुमान लगाया जाना असंगत नहीं है कि पिशाद्रु (सिहोर) नामक वृक्ष को अपना कुल वृक्ष मानने के कारण ही इनका नाम पिशाच पड़ा हो। संस्कृत कोश के अनुसार ('पिशित-माचमति—आ+चम्, बा० ड पृषो')[1] पिशाच का अर्थ 'शैतान' अथवा 'दुष्ट प्राणी' लिया गया है। इसी आधार पर 'पिशाच-भाषा' को शैतानों की भाषा कहा गया है परंतु धन के स्वामी कुबेर का एक विशेषण 'पिशाचकिन्' होना सिद्ध करता है कि पिशाचों के साथ उनका निकट संबंध रहा है।

1. संस्कृत हिंदी कोश—पृ० 615, वामन शिवराम आप्टे, दिल्ली, 1966

कोश के अर्थ के अनुसार मांस भक्षी ही पिशाच कहे गए हैं। पिशाचों को 'बैताल' अथवा 'प्रेत' भी कहा गया है तथा विकृति को अधिक वीभत्स बताने के लिए उन्हें 'प्रेतभक्षक' भी बताया गया है। ऋग्वेद (1/133/5) में इनका उल्लेख 'पिशाचि' नाम से हुआ है। अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर इन्हें 'दानव' कहा गया है।[1] गोपथ ब्राह्मण (1/10) के अनुसार अथर्ववेद की एक उपशाखा 'पिशाचवेद' के नाम से भी ख्याति प्राप्त है जिससे यह सिद्ध होता है कि पिशाच आर्यों के बलवान शत्रु होने तथा भिन्न सामाजिक परंपराएं रखने के कारण ही घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। ब्रह्मपुराण के वर्गीकरण के अनुसार पिशाचों को गंधर्व, गुह्यक तथा राक्षसों के साथ 'देवयोनि' माना गया है। यह उल्लेख भी प्राप्त है कि यक्ष तथा गंधर्व, राक्षस और पिशाच क्रमशः 'दृष्टि', 'शरीरप्रवेश' तथा 'रोगों के समान पीड़ा उत्पन्न' करके कष्ट पहुंचाते है। इन वर्गों के लोगों को पुलस्त्य, पुलह तथा अगस्त्य की संतान माना गया है तथा ब्रह्मांड पुराण के अनुसार पिशाचों को रुद्र का उपासक माना गया है। ये महाभारत में अनेक संदर्भों में वर्णित हुए हैं तथा द्रोण पर्व के (142/35, 150/102) के अनुसार इन्होंने युद्ध में घटोत्कच की सहायता करके कर्ण पर आक्रमण किया था। युद्ध में अनेक स्थलों पर इनकी उपस्थिति बताई गई है। महाभारत वन तथा सभापर्वों के अनुसार ये शिवजी के पार्षद बताए गए हैं तथा इन्होंने गोकर्ण और मुञ्जवत पर्वतों पर शिव की तपस्या की थी।

यहां यह बताना रुचिकर रहेगा कि महाभारत के युद्ध में युधिष्ठिर सेना की ओर से इन्हें क्रौंचव्यूह के दाहिने पक्ष की ओर खड़ा किया गया था तथा रावण को भी वन पर्व (259/38) के अनुसार इनका राजा बताया गया है जो संगत प्रतीत नहीं होता। सभापर्व में ये ब्रह्मा और कुबेर के भक्त भी बताए गए हैं। पैशाची प्राकृत में गुणाढ्य (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'बृहत्कथा' लिखा था। इससे सिद्ध होता है कि यह भाषा समृद्ध थी तथा इसका प्रचार-क्षेत्र पर्याप्त व्यापक रहा होगा। बृहत्कथा की मूल प्रति अब उपलब्ध नहीं हैं परंतु उसी के आधार पर कथा सरित्सागर की रचना हुई बताई जाती है। चित्राव का कथन है कि पिशाचों की भाषा तथा संस्कृति ईसापूर्व में ही इतनी समृद्ध हो गई थी कि पर्शिया के सम्राटों ने उसे स्वीकार कर लिया था। महाभारत के युद्ध में दुर्योधन की ओर से पिशाचदेशीय सैनिकों की उपस्थिति का भी उल्लेख है।

बृहद्देवता[2] ग्रंथ में पिशाचों को मानव ही नहीं बताया गया है बल्कि आर्यों

1. अथर्ववेद 2/18/4, 20/6-9, 12/1/50 आदि
2. बृहद्देवता 5/10, 5/22,

के साथ उनके विवाह-संबंधों का उल्लेख भी किया गया है। मार्कंडेय, वायु, ब्रह्मांड आदि पुराणों में 'पिशाचिका' नाम की एक नदी का उल्लेख भी है परंतु इसकी स्थिति का स्पष्ट पता लगाना कठिन है। ब्रह्मांड पुराण में इन्हें घूमंतु, खाल पहनने वाले तथा लंबे बालों वाले बताया गया है। मत्स्य पुराण के अनुसार वे हिमवत के निवासी हैं तथा महाभारत में पंजाब तथा उत्तरी हिमालय के निवासी बताए गए हैं। 'रक्षः पिशाचा यक्षाश्च सर्वे हैमवतस्तु ते' से राक्षस, पिशाच तथा यक्ष हिमालय से संबंधित प्रतीत होते हैं। महाभारत में सरस्वती-तट पर तपस्या के लिए उनके ठहर जाने का वर्णन है। यहां तपस्या करके कुछ पिशाचों ने हिंसकवृत्ति का त्याग किया था, ऐसा उल्लेख भी है।

पिशाच विवाह-प्रथा तथा कार्य-व्यापार की निंदा महाभारत में भी की गई है। राजतरंगिणी (5/469) में पिशाचपुर नगर का उल्लेख है। कपिशा नामक स्थान को पिशाचों की मातृभूमि माना जाता है।[1] काफिरीस्तान के समीप का क्षेत्र पिशाच भूमि रही होगी क्योंकि वहां का एक कबीला जिसे 'पशाई' कहा जाता है, पिशाचों का अवशेष हो सकता है। पंजाब के बाहीक पिशाचों के वंशज माने जाते हैं।[2] अमरकोश (1/1/11) के अनुसार जिन दस देवयोनियों का उल्लेख है, वे हैं—

विद्याधराप्सरो-यक्ष-रक्षो-गन्धर्व-किन्नराः ।
पिशाचो गुह्यको सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।।

इस क्रम में पिशाच जाति सातवें स्थान पर वर्णित है। वे इस क्रम में किन्नरों तथा गुह्यकों के समीप हैं। जिन असुरयोनियों का वर्णन अमरकोश (1/11/2) में दिया गया है, वे इस प्रकार हैं—

असुरा दैत्य-दैतेय-दनुजेन्द्रारि-दानवाः ।
शुकशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः ।।

अर्थात् (i) असुर, (ii) दैत्य, (iii) दैतेय, (iv) दनुज, (v) इन्द्रारि, (vi) दानव, (vii) शुकशिष्य, (viii) दितिसुत, (ix) पूर्वदेव तथा (x) सुरद्विष, दस असुर योनियां हैं।

पिशाचों को निश्चय ही अपनी परंपराओं के कारण बाद में हीन माना जाने लगा होगा। मनुस्मृति में वर्णित आठ विवाह प्रकारों, यथा, ब्राह्म, देव, आर्य, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस तथा पिशाच में से पिशाच विवाह प्रथा अंतिम प्रकार है और इस प्रकार निकृष्टतम माना गया है। महाभारत आदि पर्व (73/9/12) में वर्णित पिशाच विवाह परंपरा के अनुसार इस प्रथा में कन्या को

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी, रघुनाथ सिंह, पृ० 100-101
2. वही, पृ० 100

पति द्वारा धोखा देकर प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार की विवाह-परंपरा का विशद वर्णन हिमाचल प्रदेश की विवाह प्रथाओं के संदर्भ में किया गया है।

रघुनाथसिंह का कथन है कि पिशाच भूमि काफिरी स्थान में बलपूर्वक विवाह की प्रथा अब तक प्रचलित रही है तथा विवाहावसरों पर गालियां भी दी जाती थीं। उनका कथन है कि पैशाची भाषा में पुत्रवधू के लिए प्रयुक्त 'हनेवे' शब्द का अर्थ 'मार खाने वाली औरत' होता है जो यह सिद्ध करता है कि वधू को बलपूर्वक भगा कर लाया गया है। पिशाच पितरों के श्राद्ध नहीं करते थे अतः पितरविरोधी थे तथा शत्रुओं का रक्त तथा कच्चा मांस खाते थे अतः अत्यंत घृणित थे। 'हनेवे' शब्द 'हनन की गई' अर्थ का द्योतक है। यह प्रथा हिमालय-क्षेत्र की अनेक जातियों में अब तक प्रचलित है।

मार्कण्डेय पुराण में पैशाची को 11 भाषाओं की मूल भाषा माना गया है जो इस बात का प्रमाण है कि पैशाची का प्रभावक्षेत्र अत्यंत व्यापक था तथा वह अपभ्रंश और प्राकृत की भांति सशक्त थी। राजशेखर ने पैशाची को मूल वैदिक भाषा रूपी शरीर का पांव (पाद) माना है जबकि संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु तथा अपभ्रंश को उदर कहा गया है।[1] भले ही इस उपमा से पैशाची का स्थान न्यूनतम है परंतु वह चार सर्वाधिक प्रभावशाली भाषाओं में से एक है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरे, इस विभाजन से यह भी सिद्ध होता है कि पिशाच द्रविड़ नहीं थे। इस प्रकार पैशाची सरलतम भाषा सिद्ध होती है। इस भाषा को भूत भाषा भी कहा गया है। संभवतः भूत का अर्थ 'मानव' लिया गया होगा। पश्तो तथा दरद पैशाची भाषा के समीप की भाषाएं हैं।

नाटकों में पैशाची भाषा को नीच पात्रों द्वारा कहे जाने का प्रचलन शायद इसलिए रहा है कि यह सामान्य जनता की भाषा थी तथा इसे आर्य साहित्यकार हीन वर्ग के लोगों की भाषा मानते थे। भोजदेव ने इसीलिए 'नात्युत्तमपात्र प्रयोज्या पैशाची' कहा होगा। पैशाची को दरद भाषा भी कहा गया है क्योंकि दोनों वर्गों में भाषा साम्य रहा होगा। पैशाची का शब्दभंडार शौरसेनी के समीप होने के कारण यह आधुनिक हिंदी की समजननी कही जा सकती है। पांचाल पैशाची तथा शौरसेनी पैशाची इसके दो प्रकार बताए गए हैं। पैशाची में संस्कृत शब्दों की बहुलता को देखते हुए कहा जा सकता है कि संस्कृत तथा शौरसेनी का प्रारंभिक रूप पैशाची रहा होगा।

पैशाची में 'ण' का 'न' हो जाता है। यह परिवर्तन 'गणना' के स्थान पर 'गनना' में देखा जा सकता है। 'र' के स्थान पर 'ल', 'म' के स्थान पर 'म्म'

1. अहो श्लाघनीयासि शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृत मुखं।
प्राकृतं बाहू, जघन अपभ्रंशः पैशाचं पादौ॥

यथा धर्म के स्थान पर 'धम्म', गत्वा के स्थान पर 'गन्तू', पंडित के स्थान पर 'पांडतून' तथा 'क्ष' के स्थान पर 'ख' होने का क्रम इस दिशा में भाषा परिवर्तन के उदाहरण हो सकते हैं। इस प्रकार पिशाच स्पष्टत: आर्य वर्ग से संबंधित रहे हैं। वायु पुराण (66/257-288) पिशाचों के प्रकारों तथा रहन-सहन का विशद वर्णन उपलब्ध है जिससे इस जाति के संबंध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्मांड पुराण (3/7/2/56) के अनुसार रावण ने इन्हें पराजित किया था। मत्स्यपुराण (8/5) के अनुसार ब्रह्मा द्वारा सृष्टि का निर्माण किए जाने के पश्चात् पृथ्वी मंडल पृथु को दिया गया था तथा शूल-पाणि को पिशाचों तथा भूत-प्रेतों व यक्षों आदि का अधिपति नियुक्त किया गया था अत: पिशाच शिवभक्त हैं।

भागवत पुराण (10/85/41) में असुरराज बलि द्वारा कहे गए वचनों से सिद्ध होता है कि पिशाच तथा अन्य योनियां यथा भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, दानव, दैत्य, सिद्ध, चारण, प्रमथनायक आदि विष्णु भक्त नहीं थे। हरिवंश पुराण के भविष्यपर्व में अध्याय 79-80 में पिशाचों का जो वर्णन उप-लब्ध है उससे वे भद्दे, मैले-कुचैले तथा विकृत चेहरों वाली जाति प्रतीत होते हैं। वे नियमों के रहित होने के कारण अधम कहे गए हैं। मैकडानल तथा कीथ के अनुसार पिशाच शब्द विरोधी जाति के लिए प्रयुक्त होता होगा। भागवतपुराण (12/3/40) में कलियुग में मनुष्यों की दयनीय स्थिति की तुलना पिशाचावस्था से की गई है। डॉ० ग्रियर्सन उन्हें उत्तर-पश्चिमी हिमालय का निवासी मानते हैं। क्रूर तथा गन्दे व्यक्ति के लिए 'नरपिशाच' की गाली पर्वतीय क्षेत्रों में अब भी प्रचलित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पिशाच-संस्कृति का प्रभाव सम्पूर्ण हिमालयीय क्षेत्रों में व्याप्त रहा है।

यक्ष

यक्ष, किन्नर तथा गंधर्व यद्यपि अर्द्धदेवयोनियां मानी गई हैं तथापि इनका अस्तित्व मानवों के रूप में रहा है, इसमें सदेह नहीं है। यक्ष शब्द का प्रयोग ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में अनेक बार हुआ है।[1] वायु, मत्स्य तथा ब्रह्मांड पुराणों में यक्ष, गंधर्व तथा किन्नर हिमालय प्रदेश की जातियां प्रतीत होती हैं। इन्हें कलाकार जातियां बताया गया है। अग्निपुराण (19/18) के अनुसार कश्यप की पत्नी खसा से यक्षों की उत्पत्ति बताई गई है।

महाभारत के आदि पर्व (1/35) में उन्हें पुलस्त्य ऋषि की संतान माना गया है। इसी पर्व (1/108) के अनुसार शुकदेव ने उन्हें महाभारत की कथा सुनाई थी। पांडव भीम ने वन पर्व (160/57-58) के अनुसार यक्ष तथा राक्षसों को पराजित किया था तथा कुबेर का राज्याभिषेक इन्हीं के द्वारा हुआ था। सुंद तथा उपसुंद के द्वारा उन्हें दुखी किए जाने का उल्लेख भी वन पर्व (208/7) में उपलब्ध है। सुंद तथा उपसुंद निकुंभ दैत्य के पुत्र थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, निकुंभ पिशाचों का राजा था। पिशाच भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर वर्तमान काफिरीस्थान के क्षेत्र में रहते थे। यह स्थान काश्मीर के समीप है।

महाभारत आदि पर्व (200-204) में बताया गया है कि सुंदोपसुंद ने विश्व को जीतने के उद्देश्य से घोर तपस्या करके ब्रह्मा से वर प्राप्त किया कि उन्हें मायावी विद्या, अतुल बल तथा इच्छानुसार रूप धारण करने की शक्ति प्राप्त हो। इन वरों के अतिरिक्त इन्हें यह वर भी प्राप्त हुआ कि इन्हें एक-दूसरे भाई के अतिरिक्त कोई मार नहीं सकता था। बाद में ये अत्यंत उच्छृंखल हो गए तथा यक्ष कार्यों में बाधा डालने लगे जिससे ब्रह्मा ने विश्वकर्मन के द्वारा एक सुंदरी तिलोत्तमा का निर्माण कराया जिसे देखकर इनमें झगड़ा हो गया और दोनों ने एक-दूसरे को मार दिया।

1. ऋग्वेद, 4/3/13, 7/56/16, 7/61/5 तथा 1/190/4 तथा अथर्ववेद 8/9/25, 10/2/32, 11/2/4 तथा 10/7/38 आदि।

महाभारत आदि पर्व (1/33) में इन्हें 'क्षुद्र देवता' कहा गया है। कुबेर इनका राजा था तथा ये उसकी सभा में रहते थे, इस बात की पुष्टि सभापर्व (10/18) से होती है। यक्षों की उत्पत्ति की एक अन्य कथा भी प्रसिद्ध है जिसके अनुसार राक्षसों के साथ ये ब्रह्मा के पांचवें शरीर से उत्पन्न हुए और पैदा होते ही इन्होंने 'क्या करें ?' अर्थात् 'किं कुर्मः ?' पूछा जिस पर ब्रह्मा ने उन्हें 'यक्षध्वम्' अर्थात् 'तुम यज्ञ करो' ऐसा आदेश दिया। इनका 'यक्ष' नाम इसी कारण पड़ा। कुबेर को गुह्यकों का राजा भी कहा जाता है जिससे प्रतीत होता है कि यक्ष तथा गुह्यक एक ही जाति के दो वर्ग थे। विद्याधरों के निवासस्थान के समीप इनका क्षेत्र मेरु पर्वत के आस-पास बताया गया है तथा भागवद् पुराण (12/10) के अनुसार मणिकंधर, मणिभूप, मणिभद्र, मणिमंत्र, मणिवर आदि यक्षों को कुबेर की सभा का पार्षद तथा सेनापति बताया गया है।

जैसा कि विदित है कुबेर के वंश में रावण-विभीषण आदि चार राक्षस-पुत्रों का उल्लेख भी आता है। राक्षस-पुत्रों के कारण कुबेर को राक्षसराज भी कहा जाता है। सुंद उपसुंद द्वारा जीते जाने की कथा से प्रतीत होता है कि यक्ष, राक्षस तथा गुह्यक मित्रराष्ट्रों के लोग थे जबकि पिशाचों के साथ उनके कभी-कभार युद्ध होते रहते थे।

यक्षों के अनेक स्थान 'जक्खस्थान' के नाम से हिमाचल प्रदेश में प्रसिद्ध हैं उनमें शिमला के पास का 'जाखू टिब्बा', जहां हनुमान-मंदिर है, इस जाति का अवशेष माना जा सकता है। यक्ष देवता को पशु-सम्पदा का रक्षक माना जाता है अतः गाय-भैंसों के दूध-घी पर बुरी नजर न लगने के भय से आश्वस्त होने के उद्देश्य से गौशाला में ही गाय के खूंटे की अर्घ्यधूप द्वारा पूजा अर्थात् 'जक्खपूजा' का प्रचलन प्रदेश के अनेक भागों में है। यम ने यक्ष का रूप धारण करके पांडवपुत्रों को बेहोश कर दिया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि विशिष्ट प्रकार के देवताओं का पूजन करने के कारण इस जाति के देवी-देवताओं को यक्ष रूप में मान्यता मिली। देवी-देवताओं की मूर्तियों पर ऊपर से मालाएं पहनाते, पुष्प वर्षा करते तथा उड़ते हुए उन्हें नमस्कार करते हुए यक्षों को मूर्तियों तथा चित्रों में देखा जा सकता है। भगवान बुद्ध की मूर्तियों पर भी माला अर्पित करते हुए उन्हें देखा जा सकता है। उन्हें चार हाथों व चार पांवों वाला दिखाकर देवयोनि में रखे जाने के यत्न हुए। जहां ब्रह्मांड तथा वायु पुराणों में उन्हें राक्षस पिता तथा खसा माता की संतान माना गया है वहां भागवत पुराण में वे कश्यप पिता तथा विश्वा माता की संतान बताए गए हैं।

भागवत (7/8/38) के अनुसार देवों के साथ यक्ष श्री कृष्ण को देखने के लिए आए थे। यक्षों का स्वामी कुबेर था परंतु वे रुद्र के अनुयायी बताए गए हैं।

मत्स्य पुराण (8/5) के अनुसार ब्रह्मा ने यक्षों का अधिपत्य शूलपाणि को दिया था। मत्स्य पुराण (10/22) में वर्णित है कि यक्ष इंद्र के विरोध में वृत्र की ओर से लड़े थे तथा दक्ष प्रजापति के यज्ञ में वे सती के साथ गए थे। भागवत पुराण (3/10/28) के अनुसार वे पितरों की पूजा करते थे परंतु पिशाच पितरपूजा के विरोधी थे। इस उद्धरण से दोनों वर्गों की भिन्न संस्कृतियों का पता चलता है।

बाल्मीकि रामायण (कि० कांड, सर्ग 43, श्लोक 21-23) में बताया गया है कि सुग्रीव ने बंदरों को सीता की खोज करने के लिए कैलास के समीप यक्ष प्रदेश में भेजा था। रावण ने यक्षों को पराजित किया था, इस संबंध में ब्रह्मांड पुराण (3/7/225) में उल्लेख है। यह आश्चर्य का विषय है कि रावण को अनेक हिमालय-क्षेत्रीय जातियों की विजय के साथ संबंधित किया गया है। बहुत संभव है यह राजा लंका का प्रसिद्ध राजा रावण न होकर कोई अन्य पहाड़ी राजा हो परंतु कुबेर के वंश के साथ लंका के राजा रावण तथा विभीषण को संबंधित करने से ऐसा प्रतीत होता है कि रावण के वंशज असुर मूलरूप में मध्य एशिया से चलकर हिमालय होते हुए भारत के दक्षिणी भागों की ओर बढ़े थे और शताब्दियों तक इन लोगों के संबंध अपनी पूर्व भूमि हिमालय से रहे थे। आधुनिक द्रविड़ों में रुद्र तथा शिवपूजा की सशक्त परंपरा इस बात की पुष्टि करती है। कुबेर शिवभक्त था, इस बात की पुष्टि मत्स्य पुराण के तेईसवें अध्याय के इस आख्यान से भी होती है कि वृहस्पति की पत्नी तारा के कारण शंकर तथा चंद्रमा में युद्ध हुआ जिसमें कुबेर अपने सहयोगियों, जिनमें बैताल, यक्ष, नाग तथा किन्नरों की सेनाएं सम्मिलित थी, के सहित शंकर की ओर से लड़ा था।

रघुनाथ सिंह ने अपने ग्रंथ कल्हणकृत राजतरंगिणी में मत्स्य पुराण, अध्याय 180 से एक कथा उद्धृत की है जिसके अनुसार यक्षों के राजा पूर्णभद्र ने अपने शिवभक्त पुत्र हरिकेश को इसलिए रुद्रपूजा की मनाही की थी कि उसकी जाति के लोग कच्चा मांस खाते थे, हिंसा करते थे तथा कुत्सित जीवों का मांस भक्षण करते थे।[1] हरिकेश ने पिता की बात न मानकर काशी में शिवपूजा की थी। भागवत पुराण में विराट् पुरुष प्रसंग (2/6/13) में दैत्य, देवता, मनुष्य, नाग, यक्ष, मृग, गंधर्व, अप्सरा, भूत, प्रेत, विद्याधर, सर्प आदि को विराट् पुरुष माना गया है जो यक्षों को नागों के साथ मानव सिद्ध करता है।

1. न हि यक्षकुलीनानां मूढ़ वृत्तं भवत्युत।
गुह्यका वत (?) यूयं वै स्वभावात्क्रूरचेतसः॥
क्रव्यादाश्चैव किमक्षा हिंसाशीलाश्च पुत्रक।
मैवं कार्षीनं ते वृत्तिरेवं दृष्टा महात्मना॥

भागवत पुराण (10/6/27) में भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस और विनायकों के साथ यक्षों का वर्णन आया है तथा (10/32/16) वे देवता, गंधर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधरों तथा मनुष्य के साथ भी वर्णित हैं जिससे उनकी सदेह स्थिति पुष्ट होती है। यक्ष लोग स्वभाव से कृपण होते थे, इस संबंध में भागवत पुराण (11/23/24) में कंजूस मनुष्य की उपमा यक्ष से देते हुए कहा गया है कि जो धन का उपभोग अन्य अधिकारियों को न देकर स्वयं ही करता है वह यक्ष के समान धन की रखवाली करने वाला कृपण है।

मत्स्यपुराण के 121वें अध्याय का उल्लेख करते हुए रघुनाथ सिंह ने यक्षों के निवास स्थान के बारे में बताया है कि वे कैलास पर्वत के पूर्व और उत्तर दिशा में चंद्रप्रभ गिरि के समीप स्थित अच्छोद सरोवर से निकलने वाली अच्छोद नदी के तट पर चैत्ररथ वन तथा उसके समीपस्थ पर्वत पर क्रूरकर्मा सेनापति मणिभद्र के साथ गुह्यकों द्वारा रक्षित होते थे।

वायु पुराण (अध्याय 39) में दिए गए यक्षों के निवास स्थान से उनकी स्थिति का पता तो चलता ही है, साथ ही यह जानकारी भी मिलती है कि अगस्त्य, पौलस्त्य तथा विश्वामित्र गोत्रों से उत्पन्न होने वाले राक्षसों तथा यक्षों के अधिपति कुबेर थे और शतशृंग पर्वत पर उनके सौ पुर थे। यहां असुरों की विशेषता बताते हुए उन्हें देवताओं के समान अधिकारी, धर्मात्मा व समर्थ बताया गया है।

कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार यक्ष कश्मीर के सीमान्त मेरु के दक्षिण तथा कैलास के पश्चिम में उत्तरी पश्चिमी सीमा पर रहते थे और ख्याति प्राप्त शिल्पी थे। वे सेतु बनाने में भी प्रवीण थे। गुह्यक उनकी एक शाखा थी तथा कश्मीर के राजा दामोदर के समय तक यक्षों तथा गुह्यकों ने सेतु तथा बांध बनाने का कार्य किया। गुह्यक सेतु बनाने में तथा यक्ष बांध बनाने में निपुण थे। नीलमत पुराण में उन्हें इस प्रकार वर्णित किया गया है—

दनायुशाया वृत्रस्तु भद्रास्तु सुरभेः सुताः।
यक्षश्च राक्षसाश्चैव खसायास्तनयाः स्मृताः ॥48-17/72॥

हिमाचल अर्थात् हिमालय की संस्कृति पर यक्ष विचारधारा का प्रभाव शेष है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'यक्ष' शब्द से ही बाद में 'खश' शब्द प्रचलित हुआ। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से यह संभव भी है।

गुह्यक

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, गुह्यक यक्षों के बन्धु-बांधव थे। अमरकोश में वर्णित दस देवयोनियों में उन्हें पिशाचों के बाद दर्शाया गया है। कुबेर को गुह्यकाधिपति तथा वैश्रवण भी कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण (17/4/3/10) के अनुसार कुबेर वैश्रवण एक राजा का नाम था जिसकी प्रजा राक्षस थे। तैत्तिरीय आरण्यक में इसे देवता बताया गया है। इसका निवास स्थान गन्धमादन पर्वत था। यह उत्तर दिशा का अधिपति माना जाता है। इसकी पुरी को अलकापुरी तथा पत्नी को भद्रा बताया गया है।

ब्रह्मांड पुराण में कुबेर की माता का नाम इलविला तथा वायुपुराण में द्रविड़ा बताया गया है। इसकी नौ पत्नियों का उल्लेख महाभारत वनपर्व (259/60) में है जिनमें से केशिनी से रावण, कुंभकर्ण, विभीषण तथा सूर्पणखा का जन्म हुआ बताया गया है। अन्यत्र कुबेर की तीन पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी नामक राक्षसी पत्नियों से, क्रमशः रावण तथा विभीषण, खर तथा सूर्पणखा और मालिनी से विभीषण का जन्म हुआ।[1] अथर्ववेद (8/10/28) में कुबेर वैश्रवण का उल्लेख है। कुबेर इसी राजा का पुत्र हो सकता है।

महाभारत (शल्यपर्व 10/15) में गुह्यकों को यक्ष भी कहा गया है जिससे इनका यक्षों से घनिष्ठ संबंध स्पष्ट होता है। भागवत (4/5/26 तथा 4/10/5) में गुह्यकों को हिमालय के निवासी बताया गया है जो उचित ही है। वायु पुराण से भी इस बात की पुष्टि होती है कि गुह्यक हिमालय में रहते थे। वे मूर्तिकला में दक्ष थे। इनके वर्णनों से ये आयुधधारी प्रतीत होते हैं जो दुर्गों तथा कुबेर की रक्षा करते थे। गोपियों को हरण करने का प्रयत्न करने पर श्रीकृष्ण ने शंखचूड़ गुह्यक का वध किया था, इस संबंध में भागवत पुराण (10/34/28) में वर्णन उपलब्ध है।

भागवत (10/55/23) में प्रद्युम्न तथा शम्बरासुर के युद्ध-वर्णन के संदर्भ में

1. महाभारत वन पर्व 259/7-8

शम्बर द्वारा गुह्यकों की तरह की माया के प्रयोग के उद्धरण से स्पष्ट होता है कि दैत्य, राक्षस, पिशाच आदि की तरह ये लोग मायावी थे। भागवत (11/14/5) के अनुसार ब्रह्मर्षि को गुह्यकों का पूर्वज बताया गया है। इन ब्रह्मर्षियों की संतान देवता, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, चारण, किन्नर, नाग, किन्देव, राक्षस तथा किम्पुरुष आदि थे।[1]

भागवत पुराण (63/10, 11/12/3) में वर्णित है कि गुह्यक शिव धर्म के अनुयायी थे तथा उन्हें पुण्यात्माओं के संसर्ग के कारण स्वर्ग प्राप्ति हुई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके स्थान हिमालय को स्वर्ग भी कहा जाता था। कल्हण की राजतरंगिणी (1/156) में काश्मीर के राजा द्वारा पुल निर्माण में गुह्यकों की सहायता लिए जाने का वर्णन है । इस ग्रंथ से पता चलता है कि राजा दामोदर (तरंग 1/159) के समय तक गुह्यक तथा यक्ष शिल्पियों के रूप में काश्मीर में विद्यमान थे । हिमाचली बोलियों में बलवान को 'जच्छ' कहा जाता है परंतु इस शब्द का प्रयोग ठीक बल वाले के लिए नहीं होता। गुह्यक जाति का अब पता नहीं चलता।

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी—रघुनाथ सिंह, पृ० 214-15

किन्नर

किन्नरों के संबंध में पर्याप्त लिखा जा चुका है। हिमाचल प्रदेश का किन्नौर जिला किन्नर क्षेत्र का ही संकुचित रूप है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने इस क्षेत्र की संस्कृति तथा रहन-सहन पर शोधकार्य किया है तथा एक पुस्तक 'किन्नर लोक साहित्य' लिखी है। किन्नर लोग भद्रजन तथा अतिथि सेवी होते हैं। ये ग्राम देवताओं तथा बौद्धधर्म में विश्वास रखते हैं। बहुपति प्रथा इस क्षेत्र में प्रचलित रही है तथा यहां के प्रधान देवी-देवता बाणासुर तथा हिडिम्बा की संतान माने जाते हैं। बाणासुर तथा हिडिम्बा से संबद्ध होने के कारण इस क्षेत्र के मूल निवासियों का संबंध असुरों से रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

ऐसी भी संभावना है कि बाणासुर की राजधानी शोणितपुर वर्तमान सराहन रही होगी। किन्नरों को अश्वमुख तथा तुरंगवक्त्र भी कहा गया है परंतु यह प्रयोग वास्तविक न होकर लाक्षणिक प्रतीत होता है। वे अश्वपालक हैं और अपने घोड़ों को अपने से आगे चलाते हैं जिससे उन्हें ये नाम दिए गए हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। महाभारत में उन्हें गंधर्व विशेष कहा गया है जो उन्हें गंधर्व, विद्याधर तथा सिद्धादि की श्रेणी में रखता है। मनु की पुत्री इला का किम्पुरुष के रूप में बदल जाना पौराणिक आख्यान है।

'किम + नरः' अर्थात् 'कौन नर' है तथा 'कौन नारी' यह आभास इस शब्द से प्राप्त होता है जो पहरावे के कारण शीघ्र स्त्री-पुरुष की पहचान न हो सकने के कारण प्रचलित हो गया होगा। किन्नर-क्षेत्र में अभी तक भी महिलाओं द्वारा दुपट्टे का प्रयोग नहीं किया जाता तथा स्त्री व पुरुष एक ही प्रकार की गोल किन्नौरी टोपी पहनते हैं। इला का रूप संभवतः किन्नरों जैसा रहा होगा और वह किन्नरों की पोशाक पसंद करती होगी। अमरकोश के अनुसार उन्हें दशदेव-योनियों में रखा गया है।[1] वे हिमालय तथा हेमकूट में निवास करते थे।

1. विद्याधराप्स—यक्ष-रक्षो-गंधर्व-किन्नराः।
   पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥
   स्वर्ग वर्ग 3/11

अमरकोष (व्योमवर्ग 2/74) में 'स्यात् किन्नरः किम्पुरुषस्तुरंगवदनो मयुः' से स्पष्ट होता है कि उन्हें किन्नर, किम्पुरुष, तुरंगवदन तथा मयु (मायावी) चार नामों से जाना जाता था। रघुनाथ सिंह का मत है कि भारतवर्ष के कुछ भागों में वर्तमान समय में पाई जाने वाली मयु जाति किन्नरों का उपवर्ग था। प्रथम तो इस जाति के विद्यमान होने का स्पष्ट संकेत नहीं है दूसरे, हिमालय के विभिन्न भागों में निवास करने वाली जातियों को 'यातुधान' अर्थात् मायावी कहा गया है। मयु शब्द को भी मायावी के अर्थ में ही समझना उपयुक्त होगा। मायावी का अर्थ छल कपट वाला न होकर 'जादू-टोना जानने वाला' तथा 'चमत्कृत करने वाला' प्रतीत होता है। मयदानव का संबंध मायावी होने के कारण किन्नर जाति से जोड़ना उपयुक्त नहीं होगा। पौराणिक किम्पुरुषवर्ष हिमालय तथा वर्तमान तिब्बत का एक भाग था।

महाभारत के सभापर्व में बताया गया है कि उस काल में यह क्षेत्र द्रुमपुत्र के द्वारा शासित था। दिग्विजय पर्व में इसे अर्जुन द्वारा विजित बताया गया है। किम्पुरुषवर्ष जम्बूद्वीप का एक भाग था। इसे हैमवत भी कहा जाता था। जम्बूद्वीप की राजधानी कुछ विद्वान जम्मू मानते हैं परंतु इसका क्षेत्र त्रिविष्टप अर्थात् वर्तमान तिब्बत तक फैला हुआ था। किम्पुरुषवर्ष को हैमवत कहने का कारण यहां की नदी में स्वर्णकण प्राप्त होना बताया जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि किन्नर भाषा में नदी के लिए 'समुद्रङ्' शब्द प्रयुक्त होता है तथा सतलुज नदी, जो इस क्षेत्र के बीचों बीच बहती है, 'जाङ्ती' अर्थात् 'सोने का पानी' के नाम से प्रसिद्ध है। इस नदी के पानी में सोने के कण रेत के साथ बहते हुए अब भी देखे जा सकते हैं।

किम्पुरुष तथा किन्नर अलग जातियां थीं। कुछ विद्वान किम्पुरुषों को ही किन्नर कहते हैं, जो उचित नहीं है। महाभारत आश्वमेधिक पर्व (88/379) में इन दोनों जातियों को अलग दर्शाया गया है—

स किम्पुरुषसंकीर्णः किन्नरैश्चोपशोभितः।
सिद्ध विप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः॥

अमरकोष शैलवर्ग में गंधमादन पर्वत, जिस पर किन्नरों का निवास माना जाता है, सात पर्वतों में से एक माना गया है। ये सात पर्वत हैं—

हिमवान्निषधो विन्ध्यो माल्यवान्पारियात्रकः।
गन्धमादमन्ये च हेमकूटादयो नगाः॥3/3

ये हैं, हिमालय, निषध, विन्ध्य, माल्यवान्, पारियात्र, गंधमादन तथा हेमकूट। वनपर्व (53/9) में यक्ष, किम्पुरुष, राक्षस तथा किन्नर वैश्रवण (कुबेर) के सहयोगी बताए गए हैं—

सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा ।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवेण च ॥

महाभारत आदिपर्व (66/8) में किम्पुरुषों को पुलह की संतान तथा दक्ष कन्या की संतति कहा गया है—

पुलहस्य सुता राजच्छरभाश्च (?) प्रकीर्तिताः ।
सिंहाः किम्पुरुषा व्याघ्रा ऋक्षा ईहामृगास्तथा ॥

वाल्मीकि रामायण किष्किन्धाकाण्ड के तीसरे सर्ग में जब सुग्रीव ने शतवलि नामक वीर वानर को सीता की खोज के लिए हिमालय की ओर भेजा तो वैखानस सर के पश्चात् शीतोदा नामक नदी का संकेत देकर कहा था कि इस नदी के तट पर कुरु प्रदेश है तथा वहां गंधर्व, किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर विहार करते हैं—

गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ।
रमन्ते सततं तत्र नारीभिर्भास्वर प्रभाः ॥50॥

भागवत में किम्पुरुष देश में द्युम्न राजा के शासन का उल्लेख है। यह राजा कृष्ण के विरुद्ध जरासन्ध की ओर से लड़ा था । किन्नर महत्त्वपूर्ण पौराणिक जाति हैं और इनकी सामाजिक परंपराएं अन्य वर्गों से भिन्न रही हैं । इनके संबंध में अगले अध्यायों में भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

गंधर्व

किन्नर तथा गंधर्व देवयोनियां मानी गई हैं अतः इन जातियों को देह-रहित मानने की भूल हुई है। किन्नर देश का वर्तमान नाम कनावर अथवा किन्नौर होने से इस क्षेत्र के संबंध में लोगों में यह धारणा पुष्ट होती जा रही है कि प्राचीन किन्नर जाति के लोग इस क्षेत्र में निवास करते थे। कुछ लोग इसी प्रकार प्राचीन गांधार देश को गन्धर्व देश मानते हैं। क्योंकि गांधार देश को वर्तमान काबुल कंधार के साथ भी जोड़ा जाता है अतः इस संबंध में कई प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि प्राचीन गंधर्व देश की सीमाएं क्या कर रही होंगी और गंधर्व लोग कौन थे ?

पुराणों में कश्यप तथा अरिष्टा की संतान को गंधर्व कहा गया है। गंधर्वों का देश हिमालय का मध्य भाग बताया गया है तथा हाहा, हूहू, तुम्बुरु तथा किन्नर इनके भेदोपभेद बताए गए हैं। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन तुम्बुरु तथा किन्नर जातियों के साथ इनका घनिष्ठ संबंध था तथा गन्धर्व देश किन्नरदेश के समीप स्थित था। अप्सराएं जो कश्यप व खशा की संतान हैं, गन्धर्वों की स्त्रियां कही जाती हैं।

गंधर्वों के राजाओं के नाम चित्ररथ, विश्वावसु, चित्रसेन आदि बताए गए हैं। ऋग्वेद (4/30/18) में वर्णित है कि इस नाम का एक राजा तुर्वशों का शत्रु था तथा इंद्र ने सुदास के लिए सरयू नदी के तट पर उसका वध किया था। परंतु महाभारत में वर्णित चित्ररथ का आरंभिक नाम अंगारपूर्ण था। युधिष्ठिर के यज्ञ में इसने सौ अश्व दिए थे। महाभारत आदि पर्व (159-160) में इसकी कथा विस्तार से दी गई है। जब पांडव लाक्षागृह से निकलकर गुप्त रूप से यात्रा कर रहे थे तब वह उन्हें मिला था। अर्जुन के साथ उसी समय इसका युद्ध हुआ था तथा बाद में उसने पांडवों से मित्रता की और उन्हें युक्ति बताई कि वे धौम्य ऋषि को अपना पुरोहित बनाएं।

महाभारत आदि पर्व (158/42, 174/2) में यह कथा वर्णित है कि इसने पांडवों को सूक्ष्म पदार्थ दर्शक चाक्षुषी विद्या सिखाई थी। गंधर्व स्त्रियों में, जिन्हें

अप्सरा कहा जाता था, उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि प्रसिद्ध हैं । गंधर्व अपने सौंदर्य तथा शौर्य के लिए प्रसिद्ध थे । गायन विद्या में तो उनका नाम किन्नरों के साथ सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है । रम्भा को कश्यप की कन्या बताया गया है जिसका कुबेर के पुत्र नलकूबर के साथ पत्नी रूप में रहना महाभारत वन पर्व में वर्णित है । इंद्र ने विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए रम्भा को भेजा था परंतु विश्वामित्र उसके षड्यंत्र को समझ गया और उसने इसे हज़ारों वर्षों तक शिला बने रहने का श्राप दिया था । इसे महाभारत में ही तुंबुरु नामक गंधर्व की पत्नी भी कहा गया है । आश्चर्य यह है कि महाभारत के उद्योग पर्व में जहां रंभा को तुंबुरु की पत्नी बताया गया है वहां अनेक पुराणों में तुंबुरु को कश्यप तथा प्राधा का पुत्र बताया गया है ।

भागवत (5/25/8) में वर्णित है कि तुंबरु नारद के साथ ब्रह्मा की सभा में गायन करता था । यह युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में भी उपस्थित बताया गया है । वाल्मिकीय रामायण के अरण्यकांड में बताया गया है कि इसे रंभा पर आसक्त होने के कारण कुबेर ने शाप दिया था जिससे यह विराध नामक राक्षस बन गया तथा राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध में मृत होने पर इसे अपना वास्तविक रूप मिला था ।

उर्वशी ऋग्वैदिक काल की प्रसिद्ध अप्सरा रही है । ऋग्वेद के चतुर्थ, पंचम, सप्तम तथा दशम मंडल में उर्वशी के अनेक आख्यान प्राप्त हैं । सातवें मंडल की ऋचाओं में बताया गया है कि इसके पुत्र का नाम वसिष्ठ था । दसवें मंडल में वर्णित उर्वशी पुरुरवा आख्यान तो प्रसिद्ध वैदिक प्रेम-प्रसंग है । उसने विवाह की शर्त मानकर यह प्रतिज्ञा की थी कि जब पुरुरवा नग्नावस्था में उसे दिखाई देगा, वह उसे छोड़कर चली जाएगी । एक अवसर पर ऐसा हुआ और वह उसे छोड़कर चली गई जिसके कारण राजा पागल होकर प्राण त्याग के लिए उद्यत हुआ । भागवत पुराण (4/6) में कथा है कि वदरिकाश्रम में तपस्यारत ऋषियों की तपस्या को भंग करने के लिए इंद्र ने सोलह हजार पचास अप्सराओं को भेजा था जिनमें रंभा, तिलोत्तमा, घृताची आदि भी सम्मिलित थीं । इसे मदनसेना कहा गया है । विष्णु पुराण में उर्वशी की उत्पत्ति नारायण के उरु (जांघ) से बताई गई है तथा कहा गया है कि इसी कारण उसका नाम उर्वशी हुआ ।[1] जंघा से सोलह हजार इक्कावन अप्सराओं की उत्पत्ति का उल्लेख अप्सराओं को दिव्य पृष्ठ भूमि प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया लगता है ।

देवी भागवत तथा मत्स्यपुराण में उल्लेख है कि उर्वशी तथा अन्य अप्सराएं अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुईं । महाभारत (सभापर्व 10/11) के अनुसार कुबेर

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश—म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पृ० 89

की सभा में यह सदा उपस्थित रहती थी तथा पुरुरवा की कथा में इसने शादी से पूर्व तीन शर्तों में से दो ये रखी थीं कि जिन दो भेड़ों को वह उस समय पाल रही थी, उन्हें संरक्षित करना होगा, तथा वह सदा ही घी का आहार करेगी।

महाभारत में अर्जुन के इंद्रलोक में जाने की कथा वर्णित है और बताया गया है कि वह वहां शिक्षा ग्रहण करने के लिए गया था। वहीं उसे उर्वशी मिली थी जिसके प्रणय निवेदन को अस्वीकार करने के कारण उसे उसने शाप दिया था कि वह एक वर्ष तक नपुंसक रहेगा। इंद्र ने उसे इस अवसर पर बताया था कि यह शाप अज्ञातवास में उसके लिए उपयोगी रहेगा। इन सब बातों से पता चलता है कि उर्वशी वैदिक तथा पौराणिक काल की अत्यंत सुंदरी पर्वतीय स्त्री रही होगी।

महाभारत वनपर्व (82/136) में उर्वशीतीर्थ का वर्णन भी है परंतु इस तीर्थ का सही पता लगा पाना सहज नहीं है।

इन्द्रलोक का ही दूसरा नाम स्वर्गलोक कहा जाता है। यह लोक निश्चित रूप से हिमालय में ही रहा होगा। मेनका भी स्वर्गलोक की एक अप्सरा थी जो कश्यप और प्राधा की संतान मानी जाती है। महाभारत आदि पर्व (114/53, 44/29 तथा 68/67) में उसे छः प्रधान अप्सराओं में से एक बताया गया है तथा यह भी उल्लेख है कि अर्जुन के जन्मोत्सव में उसने अन्य अप्सराओं के साथ नृत्य प्रस्तुत किया था। यह ऊर्णायु नाम के गंधर्व की पत्नी थी। गंधर्वों के राजा विश्वावसु से इसे पमद्वरा कन्या उत्पन्न हुई थी। पृषत् राजा से इसे द्रुपद नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था, इसका उल्लेख भी महाभारत आदिपर्व में प्राप्त है। इसके एक अन्य पति वध्र्यश्व का पता भी पुराणों से चलता है परंतु मेनका का नाम विश्वामित्र के साथ सर्वाधिक जुड़ा हुआ है। इसने विश्वामित्र का इन्द्र के कहने पर तप भंग किया था जिससे वह ब्रह्मर्षि पद प्राप्त करने में असफल रहा था।

महाभारत सभापर्व (4/31) में गंधर्व विश्वावसु के एक पुत्र चित्रशिखंडिन् का उल्लेख है। इसकी गणना देवर्षियों में होती है। वन पर्व (45/6) के अनुसार इसने अर्जुन को गंधर्वविद्या सिखाई थी तथा इन्द्र के कहने पर उर्वशी को इसी ने अर्जुन के पास भेजा था। इसने दुर्योधन का अपमान किया था तथा कर्ण को युद्ध में हराया था। वनपर्व (231) के अनुसार यह दुर्योधन को बांध कर इंद्रलोक ले गया था और बाद में अर्जुन ने इसे हराया था। सन सभी बातों से पता चलता है कि जब महाभारतकालीन पांडव सदेह पुरुष थे तो इंद्रलोक तथा गंधर्वलोक उनके क्षेत्र के समीप ही हिमालय में अवस्थित थे जहां वे विद्याध्ययन के लिए गए, अप्सराओं तथा गंधर्वों से मिले तथा गन्धर्व-स्त्रियां अनेक विवाह कर सकती थीं। यह क्षेत्र किन्नर क्षेत्र के समीप रहा होगा क्योंकि कुबेर के आधि-

पत्य में राक्षस, पिशाच, आदि सभी पर्वतीय जातियों को दिखाया गया है अतः यह उपयुक्त होगा कि कुबेर के संबंध में भी जानकारी प्राप्त कर ली जाय। कुबेर को वैवस्वत मन्वतंर के विश्रवा ऋषि का पुत्र कहा गया है। इसे यक्षों का राजा बताया गया है। इसके बाजू छोटे (ह्रस्वबाहु), ठोडी बड़ी(महाहनु) तथा कान शंकु (शंकुकर्ण) थे। शरीर बड़ा तथा सिर मोटा होने के कारण यह बेडौल लगता था, इसीलिए ब्रह्मांड पुराण (3/8/40-44) के अनुसार इसका नाम कुबेर पड़ा। वायु पुराण (59/90-91) तथा ब्रह्मांड (2/33/98-100) में इसके पिता विश्रवस् को अगस्त्य का भाई बताया गया है।

भागवत् (4/1-36-37) के अनुसार विश्रवस् के पिता का नाम पुलस्त्य बताया गया है। विश्रवस् की माता का नाम इलविला था। वायु पुराण में इसकी माता का नाम द्रविड़ा दिया गया है। कई ग्रंथों में इलविला तथा द्रविड़ा विश्रवस् की पत्नियां भी बताई गई हैं। महाभारत वनपर्व में इसकी जिन नौ पत्नियों के नाम दिए गए हैं, वे हैं, इडविडा (इलविला), केशिनी, पुष्पोत्कटा, राका, बलाका, चेडविडा, देववर्णिनी, मंदाकिनी तथा मालिनी। इनमें से इडविडा, इलविला अथवा इडविला को कुबेर की माता माना जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि विश्रवस् की पत्नी केशिनी (कैकसी) से रावण, कुंभकर्ण, विभीषण तथा शूर्पणखा का जन्म हुआ था तथा खर की माता का नाम पुष्पोत्कटा था। महाभारत में बताया गया है कि पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी राक्षस कन्याएं थीं जिन्हें कुबेर ने अपने पिता की सेवा के लिए नियुक्त किया था।[1] महाभारत वनपर्व (259/7-8) में विभीषण को मालिनी, खर एवं शूर्पणखा को राका तथा कुंभकर्ण और रावण को पुष्पोत्कटा की संतान माना गया है।

कुबेर का जन्म विश्रवस् के आनर्तदेश में स्थित आश्रम में हुआ बताया जाता है। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर कुबेर को अपार धन-संपत्ति तथा सोने की लंका, पुष्पक विमान, लोकपालत्व, रुद्र से मित्रता तथा नलकूबर पुत्र प्रदान किए। इसने लंका तथा पुष्पक विमान रावण को दे दिए थे अथवा रावण ने इससे ये वस्तुएं छीन ली थीं। इसका उल्लेख महाभारत वनपर्व तथा वाल्मीकि रामायण (अरण्य-कांड 15/22) में मिलता है। इसका स्थान अलकापुरी तथा तपस्या स्थान कौबेरतीर्थ माना गया है। यह यक्षाधिपति पीले रंग की दाईं आंख वाला तथा बांयीं आंख से रहित है क्योंकि इसने एक बार पार्वती की ओर आंख मिचमिचाकर देखने का अपराध किया था। इसीलिए इसे 'एकाक्षपिंगलिन्' नाम से भी जाना जाता है। इसके सेनापतियों के नाम मणिभद्र, पूर्ण भद्र, मणिकंधर, मणिभूष

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश—म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पृ० 866

आदि यक्ष बताए गए हैं। अपनी कुबेर सभा में यह ऋद्धि तथा सौ अन्य स्त्रियों के साथ बैठता था। इसकी पत्नी का नाम आदि पर्व में भद्रा दिया गया है। गंधमादन पर्वत की कुल संपत्ति का चतुर्थ भाग इसके पास तथा सोलहवां भाग मानवों के पास बताया गया है।

भागवत (5/21/7) में मेरु पर्वत के उत्तर में विभावरी नामक स्थान को इसका निवास माना गया है। यह राक्षसों का अधिपति भी है तथा उनके साथ गंधमादन पर्वत पर भी रहता है।

वायुपुराण (47/18) के अनुसार मानसरोवर से निकलने वाली सरयू नदी के किनारे के वैभ्राज वन के निवासी ब्रह्मधान नामक राक्षस को इसका सेवक बताया गया है। यह स्थान कैलास पर्वत के समीप है जहां वह राक्षस और अप्सराओं के साथ निवास करता है।

महाभारत के शांतिपर्व (75) में मुचकुंद से इसके वार्तालाप का वर्णन है जिसके अनुसार इसने बताया था कि ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की एकता से राज्य-सुख में वृद्धि होती है। कुबेर पांडवों से भी मिला था और वनपर्व (159) में उसने पांडवों की इन्द्र द्वारा की जा रही प्रतीक्षा की बात बताई थी। कुबेर का नाम सोम भी बताया गया है और उसके उत्तर दिशा का अधिपति होने के कारण इस दिशा को सौम्या कहा जाने लगा।

एक अन्य गंधर्व का नाम तैत्तिरीय संहिता में विश्वावसु कहा गया है। विश्वावसु वैदिक सूक्तद्रष्टा ऋषि था। यह कश्यप तथा प्राधा का पुत्र था तथा मेनका अप्सरा से इसे प्रमद्वरा कन्या उत्पन्न हुई थी। भागवत पुराण (4/18/17) में बताया गया है कि जब गंधर्वों और अप्सराओं ने पृथ्वी दोहन किया था तो इसे बछड़ा बनाया गया था। इंद्र तथा नमुचि के युद्ध में यह इन्द्र पक्ष की ओर से लड़ा था तथा इसका शास्त्रार्थ शांतिपर्व (306/26-80) के अनुसार याज्ञवल्क्य से हुआ था। यही विश्वावसु बाद में रामायण काल में कबंध राक्षस के रूप में ब्राह्मणों के एक शापवश पैदा हुआ और राम के हाथों मारा गया। ब्रह्मांड पुराण (3/66/23) में विश्वावसु नामक एक गंधर्व का वर्णन उपलब्ध है जो उर्वशी को पृथ्वीलोक से स्वर्गलोक वापिस ले गया था।

इन आख्यानों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में कुबेर नाम का राजा संपूर्ण हिमाचल क्षेत्र का अधिपति था और द्रविड़ जाति के लोग आदि काल में हिमालय के किसी भाग से संबंधित थे। कालांतर में राक्षस, गंधर्व, यक्ष, अप्सराएं, पिशाच आदि लोग मैदानों में बसने वाले लोगों से अलग होते चले गए और ये लोग पर्वतीयों को हीन तथा आचार विचार विहीन मानने लगे जिससे इतिहास व पुराण-साहित्य में भ्रांतियां उत्पन्न हुईं।

ऋग्वेद के एक सूक्त में बताया गया है कि दाशराज्ञ युद्ध में सुदास राजा के

हाथों पूरु लोग पराजित हुए और उन्होंने (ऋ० 1/59/6, 131/4, 4/21/10) आदिवासी लोगों पर विजय प्राप्त की थी तथा वे सरस्वती नदी के किनारे निवास करते थे। पुरुकुत्स राजा, जो सुदास का समकालीन तथा ऋग्वैदिक तृत्सुओं का शासक था ऋग्वेद (7/5/3) के अनुसार दासों से लड़ा था तथा इसने उन्हें पराजित किया था।

दाशराज्ञ युद्ध में पुरुकुत्स राजा की मृत्यु हो गई थी। दासों को ही हिमालय के आदिवासी माना जाना उपयुक्त होगा और शंबरवध के पश्चात् उनके साथ यद्यपि सामाजिक तौर पर समझौता हो गया परंतु उन्हें पूरी तरह समझ न सकने के कारण उन्हें ये नाम दिए गए। दाशराज्ञ युद्ध के बाद तृत्सु, भरत तथा पुरुओं से एकता स्थापित हुई तथा उन्हें कुरु कहा जाने लगा। कुरु जाति का स्पष्ट निर्देश ऋग्वेद में नहीं है परंतु कुरु श्रवण त्रासदस्यव राजा के नाम से इस ओर संकेत प्राप्त होता है।[1] ऋग्वेद के सातवें मंडल में सुदास, पौरुकुत्सि, त्रसदस्यु पूरु राजाओं का इंद्र के द्वारा रक्षण किए जाने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (6/8/1/14) में पुरुओं को 'असुर रक्षस' अर्थात् असुर व राक्षस कहा गया है जो इन जातियों को इन शब्दों से जोड़ने का एक संकेत है। पुरुवंश के पूर्वपुरुष ययाति की राजधानी प्रतिष्ठान नगर अर्थात् वर्तमान पठानकोट या प्रयाग थे। प्राचीन काल में इन दो प्रतिष्ठान नगरों का उल्लेख मिलता है, इस सम्बन्ध में पहले संकेत किया जा चुका है। कुरुओं का नाम पांचालों के साथ लिया जाता है। अनुमान है कि पांचालों की राजधानी वर्तमान पिंजौर रही होगी। पुरुवंश बाद में हस्तिनापुर, उत्तर तथा दक्षिणी पांचालों के तीन वर्गों में बंट गया।

वैदिक ऋषि तथा प्रतिष्ठान नगर (प्रयाग) के शक्तिशाली आर्य राजा को भी मूलतः हिमालय से संबंधित माना जाता है तथा पुरुरवा के पिता 'इल' के नाम पर 'इलावृत्त' नगर हिमालय के उत्तर की ओर मेरु पर्वत के समीप बसाए जाने का वर्णन मत्स्य (12/14) तथा पद्म पुराणों में उपलब्ध है। चित्राव का कथन इस संबंध में द्रष्टव्य है, "ऐलों की सत्ता का उद्गम प्रयाग (इलाहाबाद) में हुआ था। फिर भी उनका मूल स्थान हिमालय के मध्य भाग से तथा उस पार के देशों में था। इसके कई उदाहरण प्राप्त हैं।"

पुरुरवा की कथा में निर्दिष्ट सारे स्थान, जैसे कि मंदाकिनी नदी, अलका, चैत्ररथ और नन्दनवन, गंधमादन तथा मेरु पर्वत एवं कुरुदेश नाम से प्रसिद्ध गन्धर्वों का देश, ये सारे इसी प्रदेश के हैं। यह निश्चित है कि उत्तर कुरु प्रांत से गंधर्वों का संबंध प्राचीन काल से चला आ रहा है (मत्स्य 114.82, वायु 35.41.47)। पुरुरवा की पत्नी उर्वशी गंधर्वी थी। इसके वंशजों ने भी गंधर्व-

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश, पृ० 444-445

कन्याओं से विवाह किया था (कूर्म 1.23.46)। अंत में यह स्वयं एक गंधर्व बन गया।[1] ब्राह्मणों के साथ विरोध होने पर पुरुरवा ने अपने मूल स्थान गंधर्व-लोक से अग्नि प्राप्त करके महाभारत आदिपर्व (70/12-21) के अनुसार कार्य आरंभ किया था। इसका अन्वयार्थ बताते हुए चित्राव का कथन है कि, "इसका तात्पर्य यह होता है कि स्थानीय लोगों के विरोध को शांत करने के लिए पुरुरवस् ने अपने मूल स्थान गन्धर्वलोक से सहायता ली तथा अपना राज्य-शासन सुव्यवस्थित किया।"[2]

गन्धर्व लोक ही देवलोक था, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि कुरु जनपद को गंधर्वलोक कहा जाता था तथा सोम अथवा चंद्रवंश की स्थापना इसी के राजा ने की थी। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि गंधर्वों की स्त्रियों को अप्सरा कहा जाता था तथा वे बहुत सुंदर होती थीं और सामाजिक प्रथा के अनुसार वहां विवाह बंधन दृढ़ नहीं होते थे।

मत्स्यपुराण में पुरुरवा के क्षेत्र को प्रतिष्ठान कहा गया है। प्रतिष्ठानपुर प्रयाग का ही दूसरा नाम है। गंगा तट पर स्थित होने के कारण इसे प्रतिष्ठान कहा जाता था। ब्रह्मांड पुराण में राजा पुरुरवा के शासन का उल्लेख इस प्रकार है—

राज्यं स कारयामास प्रयागे पृथ्वीपतिः।
उत्तरे यामुने तीरे प्रतिष्ठाने महायशाः॥[3]

गंधमादन पर्वत को पुरुरवा तथा उर्वशी की विहार-स्थली बताया गया है। महाभारत (भीष्मपर्व, अध्याय 6, श्लोक 9-10) के अनुसार नील पर्वत के दक्षिण तथा निषध के उत्तर में माल्यवान् नाम का पर्वत है। माल्यवान् से परे गंधमादन पर्वत की स्थिति बताई गई है। इन दोनों पर्वतों के मध्य स्वर्ण-पर्वत मेरु है। ब्रह्म पुराण के अनुसार गंधमादन की स्थिति मेरु के पश्चिम में बताई गई है।

मार्कण्डेय पुराण[4] में बताया गया है कि गंधमादन पर्वत पर इसी नाम का एक वन है जहां जम्बू के वृक्ष अधिक हैं—'ज्म्बुर्वे गंधमादने'। गंधमादन पर्वत तथा मेरु के जम्बूद्वीप में स्थित होने का उल्लेख अन्यत्र कई स्थानों पर प्राप्त है। वायुपुराण भी गंधमादन की स्थिति इसी प्रकार स्पष्ट करता है। गंधर्वों के गंधमादन पर तथा उसके आसपास विद्यमान होने के प्रमाण पुराणों में मिलते हैं। उर्वशी तथा उसकी सखी चित्रलेखा अप्सराएं थीं। यह चित्रलेखा बाणासुर की

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश—म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पृ० 434-436
2. वही, पृ० 436
3. डॉ० विमल कुमार जैन : महाकवि दिनकर : उर्वशी तथा अन्य कृतियां, पृ० 181
4. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय 51, श्लोक 20

लड़की न होकर एक अप्सरा थी जिसे केशिन् नाम के असुर, जो हरिवंश पुराण (1/2/86) के अनुसार कश्यप तथा दनु का पुत्र था, ने उर्वशी सहित भगाया था। पुरुरवा द्वारा उर्वशी व चित्रलेखा को केशिन् से छुड़ाए जाने की घटना मत्स्य पुराण (24/23) तथा पद्मपुराण में वर्णित है। इसी दैत्य ने प्रजापति की देव-सेना तथा दैत्य सेना नाम की दो कन्याओं का अपहरण भी किया था। दैत्यसेना ने कोई विरोध नहीं किया पर देव सेना के शोर मचाने पर इंद्र ने उसे उससे बचाया था। महाभारत में इस युद्ध का विवरण अंकित है जो इस बात की पुष्टि करता है कि इंद्र, अप्सराओं तथा पुरुरवा के क्षेत्र समीपस्थ थे। दानव अनेक बार अप्सराओं को बलपूर्वक उठाकर ले जाते थे। प्रजापति के क्षेत्र का भी इस घटना से आभास मिलता है। महाभारत वनपर्व (145/1-9) के अनुसार गंध-मादन पर्वत पर आरोहण करते समय थकने पर जब कुन्ती ने घटोत्कच का स्मरण किया था तब उसने प्रकट होकर नर नारायण आश्रम तक उन्हें पहुंचाया था। यह वदरिकाश्रम था।

महाभारत आदिपर्व (143/37) के अनुसार घटोत्कच की प्रतिज्ञा का पता चलता है जिसमें उसने कुन्ती को वचन दिया था कि आवश्यकता पड़ने पर वह उनकी सहायता के लिए आया करेगा। घटोत्कच का विवाह इंद्रप्रस्थ में मुरु दैत्य की पुत्री मौर्वी के साथ हुआ था तथा स्कंद पुराण (1/2/59-60) में वर्णित है कि बर्बरीक इनका पुत्र था। मौर्वी का नाम कामकटंकटा भी बताया गया है।

खश

खश, किरात तथा अन्य वर्गों के अनेक त्यौहार अब भी इस प्रदेश के विभिन्न भागों में मनाए जाने की प्रथा है। गद्दियों का नवाला, पांगी तथा किन्नौर क्षेत्र के दखर्णैण अथवा डकरेणी त्यौहार निरमंड का भूंडा तथा अन्य हिमालयी क्षेत्रों की बूढ़ी दीवाली आदि उत्सव लोक-सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

महाभारत के सभापर्व में खशों व कुलिंदों को मेरु तथा मंदर पर्वतों के बीच शैलोदा नदी के किनारे के निवासी बताया गया है। द्रोणपर्व (121/42-48) में बताया गया है कि खश जाति के लोग महाभारत के युद्ध में दुर्योधन अर्थात् कौरव वंश की ओर से लड़े। वनपर्व, अध्याय 140 के श्लोक 24-29 में उल्लेख है कि अपने बनवास काल में पांडव हिमालय के समीप स्थित कुलिंदों के राजा सुबाहु के राज्य में गए थे और इस राजा ने उनकी बड़ी आवभगत की थी। खशों द्वारा मध्यदेश विजय का वर्णन भी महाभारत में अंकित है।

वायुपुराण में कहा गया है कि इस जाति को राजा सगर नष्ट करना चाहते थे परंतु ऋषि वसिष्ठ ने उन्हें नष्ट होने से बचाया। खश जाति का उल्लेख अनेक पुराणों में है।

खश अथवा खस एक ही जाति के दो नाम हैं। कल्हण द्वारा रचित राज-तरंगिणी की तरंग 1/317 में इनका वर्णन उपलब्ध है।[1] वर्तमान समय में कश्मीर क्षेत्र में मुसलमान खश राजपूत पीरपंचाल पर्वतमाला के दक्षिण पश्चिम में झेलम तथा किश्तवाड़ क्षेत्रों में निवास करते हैं।

नीलमत पुराण में 'खशा' तथा 'खश' दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग मिलता है। खक्ख कश्मीर में राजपूत तथा मुसलमान दोनों जातियों के लोग हैं। ये ही लोग प्राचीनकाल के खश हैं। यद्यपि कुछ लोगों का मत है कि संभवत: कश्मीर शब्द का आरंभिक 'कश' शब्द 'खश' का ही अपभ्रंश है परंतु कुछ अन्य विद्वान इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि नीलमत पुराण में यह

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी—भाष्यकार रघुनाथ सिंह—पृ० 127, परिशिष्ट, 'न'

मान्यता नहीं है तथा खशों का एक अलग नाम की जाति 'कश्मीराह' से कोई संबंध नहीं था।[1] इस निष्कर्ष का आधार क्या है, इस संबंध में अभी तक अंतिम निर्णय लिया जाना संभव नहीं हुआ है। कश्मीर की 'कशेर' उपत्यका को प्राचीन खशालय माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन 'खश मीर' जिसे 'कश्यप मीर' भी कहा जाता है, ही वर्तमान कश्मीर के साथ किसी प्रकार संबद्ध हुआ होगा। खशालय का प्राचीन नाम 'खशाली' भी बताया जाता है। यह क्षेत्र कश्मीर में माखल दर्रे से किश्तवाड़ तक फैला हुआ है।

राजतरंगिणी में खश जाति द्वारा मध्ययुग में लूटपाट करने की घटनाओं का भी वर्णन है।[2] खश पर्वत-प्रदेशों में निवास करते थे, यह बात मार्कण्डेय पुराण में भी वर्णित है। महाभारत के आदिपर्व में वर्णित है कि नंदिनी गाय ने इस जाति के लोगों को अपनी रक्षा के लिए अपने अंग से उत्पन्न किया।[3]

जैसाकि पहले कहा गया है, खशों ने महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर से भाग लिया तथा मत्स्यपुराण के अंतर्गत उनका निवास शैलोदा (शैलदा) नदी के आसपास माना जाता है। शैलदा नदी वरुण पर्वत से निकलकर पश्चिम सागर में गिरती है। राहुल सांकृत्यायन खश तथा शक जाति को एक ही मानते हैं। उनका कथन है कि 'शक' शब्द ही उलट कर खश हो गया। परंतु ऐसा मानना उचित नहीं है। मनुस्मृति (10/44) में ही शकों तथा खशों को क्षत्रियवंश में अलग-अलग दिखाया गया है।[4] मार्कण्डेय पुराण में भी खशों को शकों से अलग दर्शाते हुए उन्हें शाल्व, शूरसेन तथा शकों के साथ उल्लिखित किया गया है।[5]

यहां एक बात उल्लिखित किया जाना महत्त्वपूर्ण है कि बृहद् संहिता (10/12) के अनुसार खशों को कुलूतों, तंगणों तथा कश्मीरों के साथ वर्गीकृत किया गया है जिससे प्रकट होता है कि खश न तो कुलूत क्षेत्र के निवासी थे और न ही उन्हें कश्मीर क्षेत्र में निवास करने वाली ऐसी जाति माना जा सकता है जिसक नाम पर आधुनिक कश्मीर का नामकरण हुआ हो। जैसा कि पहले कहा जा

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी, वही पृ० 128
2. राजतरंगिणी 4/326, 8/1895 तथा 2389
3. मूत्रतश्चासृजत् काश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः।
   पौण्ड्रान् किरातान् यवनान् सिंहलान् बर्बरान् खसान्॥
   —आदिपर्व 174/37
4. पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडा : काम्बोजा यवनाः शकाः।
   पारदाः पल्हवाः चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
   मनुस्मृति 10/44
5. मा० पु० 346/350

चुका है, कुलूत ही वर्तमान कुल्लू-क्षेत्र है। इस क्षेत्र में वर्तमान समय में अनेक गांवों में राजपूत जाति के लोग निवास करते हैं। यहां तक कि कतिपय गांवों में एक जाति के अतिरिक्त अन्य जाति के लोग नहीं मिलते परंतु 'खश' शब्द वहां राजपूतों के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला सम्मानजनक शब्द नहीं माना जाता जबकि शिमला, किन्नौर तथा सिरमौर क्षेत्रों में राजपूत वर्ग के लोग अपने आपको 'खश' अथवा 'खशिया' कहे जाने में गर्व अनुभव करते हैं।

कुल्लू क्षेत्र के राजपूत प्राचीन समय में कुलिंद वर्ग से संबंधित रहे होंगे, यदि इस प्रकार के संकेत उपलब्ध हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। सहारनपुर तथा अन्य शिवालिक क्षेत्रों में कुलिंदों के सिक्के प्राप्त हुए हैं और सिरमौर का निचला भाग भी कुलिंद राज्य से संबंधित रहा है परंतु उपरि हिमालय में कुलिंदों के पुरातात्विक अवशेष प्राप्त हुए हों, ऐसी सूचना नहीं है। खशक्षेत्र बहुत शक्ति-शाली तथा व्यापक रहा है, इस संबंध में पर्याप्त संकेत हमारे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। ब्रह्मांड, मत्स्य तथा वायुपुराण में खशों के पर्वतीय जनपद का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि इस वर्ग के लोग हिमालय क्षेत्र में निवास करते थे। वायु पुराण, जिसमें पौराणिक भूगोल के विश्वसनीय उल्लेख प्राप्त हैं, के अनुसार दरद जाति खश जाति के पड़ौस में रहती थी।[1]

बंगाल के पाल तथा सेन वंशीय राजाओं के शिलालेखों में खशों के वर्णनों का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि इनका प्रभावक्षेत्र पर्याप्त विस्तृत रहा है।

रोम के इतिहासकार प्लीनी (सन् 79 ई०) के अनुसार खश अथवा केसी जातियां ही क्षत्री (केट्रीवोनी) थीं और वे सिंधु तथा यमुना के पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करती थीं। उसके पश्चात् तालमी (87-165 ई०) ने दरद जाति को झेलम, रावी तथा चनाव के मध्यक्षेत्र में निवास करने वाली जाति बताया है। उनका कथन है कि दरदों के क्षेत्र को ही कुलिंद कहा जाता था। दरद वर्तमान समय में कश्मीर के दरदिस्तान में रहते हैं तथा वर्तमान हिमाचली उपभाषाओं पर दरद पैशाची का पर्याप्त प्रभाव है। इस क्षेत्र की मध्यवर्ती बोलियों में च़, छ़, ज़, झ़ तथा ल़ उच्चारण ध्वनियों की विद्यमानता तथा 'अ' का उच्चारण 'ओ' हो जाना आदि बातें दरद पैशाची के प्रभाव को दर्शाती हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने ग्रंथ 'किन्नर देश' में मुसलमान कब्रों की उपस्थिति किन्नर क्षेत्र में 'खछेरोङ्खङ्' के नाम से बताई है। बहुत संभव है कि 'खछे' शब्द खशों के लिए प्रयुक्त हुआ हो और ये कब्रें मुसलमानों की न होकर खश जाति के पूर्व-पुरुषों की हों। यदि यह बात प्रमाणित हो जाए कि ये

1. वा० पु० 45/135 तथा 47/47

कब्रें मुसलमानों की न होकर खशों की हैं तो प्राचीन खश-संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

यह बात ध्यान देने की है कि तिब्बत के लोग कश्मीरवासियों को 'खछे' अथवा 'खट्टे' कहते थे। जब कश्मीर के लोग मुसलमान हो गए तो यह शब्द मुसलमानों के लिए प्रयुक्त होने लगा। इसी शब्द से चित्राल तथा अन्य क्षेत्रों के लोगों को 'खो' कहा जाने लगा।[1] अतः कहा जा सकता है कि 'खश संस्कृति' हिमालय क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण संस्कृति रही है। फ्रांसिस हैमिल्टन[2] ने भी खशों को आर्य जाति से संबंधित माना है। नैपाल में इनके नाम से अब भी खशभाषा प्रचलित है। इस जाति में सामाजिक संगठन धार्मिक आधार पर था तथा ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामदेव प्रथा जो हिमाचल प्रदेश की विशिष्ट धार्मिक परंपरा है, इसी जाति के लोगों की देन है।

इस वर्ग में कुल का वृद्ध पुरुष कुल देवता का प्रतिनिधि माना जाता था और वही सारे कुल का मुखिया भी होता था। मियां गोवर्धन सिंह का कथन है कि खश जाति के इन्हीं मुखिया लोगों ने छोटे-छोटे संघ बनाए जो बाद में 'मावी' अथवा 'मावणा' कहे जाने लगे। बाद में यही 'मावी' रियासतों के राजाओं के रूप में विकसित हुए।[3] खशों में वर्गभेद का बंधन नहीं था। डॉ० डी० एन० मजूमदार का कथन है कि संभवतः खशों ने स्थानीय निवासियों यथा कोल, किन्नर, किरात तथा नागों की स्त्रियों के साथ विवाह किए तथा उनमें प्रचलित बहुपति विवाह प्रथा का प्रचलन इन्हीं जातियों के साथ सम्मिश्रण के कारण हुआ।[4]

यह भी संभव है कि स्त्रियों की संख्या कम होने के कारण इस जाति में इस प्रथा का प्रचलन स्वतः हो गया हो। पांडवों के समय की बहुपति प्रथा का संबंध अवश्य ही किन्ही पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों की परंपरा से रहा है। खश वर्ग

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी—वही, पृ० 132

1. Francis Hamilton—An Account of the kingdom of Nepal and territory annexed to the Dominion by the House of Gorkha, Edinberg. 1819

1. हिमाचल प्रदेश का इतिहास—मियां गोवर्धन सिंह तथा Punjab State Gazetteer, Vol. VIII A, Simla Hill States, Bashahr State Gazetteer, Lahore, 19911, p. 20

2. डी० एन० मजूमदार—"जोनसार बाबर की खस जाति" हिंदी विश्व-भारती खंड-2 पृ० 1155-63

में प्रचलित 'ठोडा' लोकनाट्य एक प्रकार का धनुष-युद्ध है जिसमें दो वर्ग पाशा (पांव) तथा (शाठा) अर्थात् पांडव तथा कौरव धनुषबाण से युद्ध करते हैं, पौराणिक पांडव-कौरव युद्ध ही है। इस प्रथा के स्रोतों का अध्ययन करने से पता चलता है कि कौरवों तथा पांडवों का संबंध खश वर्ग से रहा है और उनके पूर्वज पर्वतीय क्षेत्रों से ही मैदानी भागों में गए होंगे।

पंडवायण लोकगाथा के प्रचलन तथा इन क्षेत्रों में उपलब्ध असंभव प्रकार के अवशेषों के साथ पांडवों का संबंध जोड़ना भी इस बात की पुष्टि करता है कि पांडव-संस्कृति का यहां पर्याप्त प्रभाव रहा है। दूसरी उल्लेखनीय बात जो यहां की धार्मिक परंपरा से जुड़ी है, शिव तथा शक्ति की पूजा परंपरा है। यह द्रष्टव्य है कि वर्तमान समय में भी शिमला, किन्नौर तथा सिरमौर के भीतरी क्षेत्रों में शिव तथा उनके अन्य रूप यथा महासू (महाशिव), महेश्वर, रुद्र आदि प्रधान ग्राम देवता हैं, उनके पश्चात् नाग देवताओं का स्थान आता है तथा अंत में नारायण देवता हैं जो शिवजी के सहायक देवताओं के रूप में ही पूजे जाते हैं।

नारायण देवता की पालकियों को हरिजन भी उठा सकते हैं तथा उसके विष्णु रूप को तो हरिजनों का ही देवता माना जाता है। उसका गूर भी हरिजन ही होता है। शिवरात्रि इस क्षेत्र का मुख्य तथा प्रधान त्योहार है। समीपस्थ क्षेत्र कुल्लू में ब्रह्मा तथा पौराणिक ऋषि ग्राम देवता हैं तथा शिवरात्रि को उस उत्साह से नहीं मनाया जाता जिससे कि शिमला तथा अन्य क्षेत्रों में मनाया जाता है। अतः प्रतीत होता है कि शिव आरंभ में खशों का देवता रहा होगा और कालांतर में उसे अन्य वर्गों के लोगों ने अपनाया होगा। डॉ० भण्डारकर शिव को आग्नेय संस्कृति के लोगों का देवता मानते हैं।

शक

खशों की भांति शक जाति भी हिमालय क्षेत्र में प्रागैतिहासिक काल में आई। विभिन्न पुराणों में शकों का कुलिंद, कुणिंद, हूण, द्रुह्य, यवन, खश तथा पुणिंदों के साथ वर्णन आया है। पाणिनी की अष्टाध्यायी में शक देश का उल्लेख है।[1] यहां यवनों के साथ उनका उल्लेख पतित क्षत्रियों के रूप में हुआ है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में शकपूत के संदर्भ अंकित हैं परंतु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का व्यक्ति शक जाति से ही संबंधित था अथवा उसका नाम ही इस प्रकार का था।

मनुस्मृति (10/4) में शकों का उल्लेख अन्य जातियों के साथ हुआ है जो उन्हें तत्कालीन समर्थ जाति के रूप में स्थापित करता है। ब्रह्मांड, वायु, मत्स्य तथा मार्कण्डेय पुराणों में इस जाति का उल्लेख हुआ है। शक मध्य एशिया के निवासी थे तथा वहां सीर तथा आमू दरियाओं की उपत्यका में रहते थे। कालांतर में ये उत्तर पश्चिमी भारत की ओर बढ़े। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी में ईरान के एक भाग को इस जाति के कारण 'सीस्तान' अथवा 'शकस्तान' कहा जाता था। हूणों के आक्रमण के कारण इन्होंने शकस्तान छोड़ दिया और भारत की ओर बढ़े। एक अनुमान के अनुसार हूणों का आक्रमण ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व हुआ। भारत में ये लोग काठियावाड़ तक फैले। महाभारत के युद्ध में ये दुर्योधन के पक्ष में लड़े।[2]

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दिग्विजय के समय इन्हें भी जीता गया था। महाभारत में वर्णित है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में ये भेंट लेकर आए थे। मत्स्य-पुराण में जहां इन्हें चक्षु नदी के तट का निवासी बताया गया है वहां मार्कण्डेय पुराण (57/39) में ये सिंधुप्रदेश के निवासी बताए गए हैं। इलाहाबाद प्रशस्ति लेख में बताया गया है कि समुद्रगुप्त ने विजातीय शकों को परास्त किया

1. अष्टाध्यायी 4/1/175
2. म० उद्योग पर्व 19/21

था।[1] भागवत पुराण के अनुसार परशुराम, सगर तथा भरत राजाओं ने इन्हें परास्त किया था क्योंकि ये हैहय राजाओं के सहायक थे। इसी ग्रंथ (4/3/48) के अनुसार ये बाद में मलेच्छ बन गए थे। पुराणों में वर्णित सप्त द्वीपों में शकद्वीप का वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि शक जाति के लोग विशाल क्षेत्र में फैले हुए थे तथा इनका स्थान समुद्र से घिरा हुआ था।

शकद्वीप को क्षीर सागर से घिरा बताया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि क्षीर सागर ऐसा समुद्र था जो सर्दियों में बर्फ के कारण जम जाता था और जिसका रंग दूध की भांति सफेद हो जाता था। वैसे तो उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों के समुद्र जमे ही रहते हैं परंतु विद्वानों का कथन है कि पुराणों में वर्णित क्षीर सागर काश्पियन सागर ही रहा होगा।[2]

मेरु पर्वत को भी शकद्वीप के अंतर्गत दर्शाया गया है जिससे उसकी स्थिति पामीर क्षेत्र में होना निश्चित होता है। यूरोप के लेखकों ने शकों को 'शकाई' तथा चीनी साहित्यकारों ने इन्हें 'शे' कहा है। वे इन्हें पशुपालक मानते हैं।[3] कुछ विद्वान श्याम अथवा स्याम देश को शकद्वीप मानते हैं परंतु इस मत पर सहमति नहीं है। शकों में गणतंत्र प्रणाली प्रचलित थी और उनके समाज में स्त्रियों को विशेष स्थान प्राप्त था।

शकों में बहुपति प्रथा प्रचलित थी। वे युद्धभूमि में शत्रु का रक्त पी जाते थे। उनमें बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन भी था। उनमें भानजी के विवाह की प्रथा भी थी और यह संभव है कि दक्षिण भारत की कुछ जातियों में यह प्रथा शकों से ही आई हो।[4] कुछ विद्वान बहुपति प्रथा का भारत में प्रचलन शकों से ही मानते हैं। इनमें यह प्रथा भी थी कि जाति के नेता अथवा राजा की मृत्यु होने पर उसकी एक पत्नी को जीवित दफना दिया जाता था। उस समय भारत में सती प्रथा के अंतर्गत रानियां चिता में जीवित जल जाती थी परंतु शकों की प्रथा के अनुसार पत्नियों को दफनाया जाता था। शकों की मृतकों के लिए जीवनोपयोगी वस्तुएं उनकी कब्रों के अंदर रखने की प्रथा का संबंध पुरातात्विक महत्त्व का है।

श्री रघुनाथ सिंह का कथन है कि खश जाति शकों के एक वर्ग से संबंधित रही है तथा इस जाति के मृतकों की कब्रें लद्दाख से कुमायूं जिलों तक मिलती हैं।[5] इन कब्रों को किन्नौर में 'खछे रोङ्-खङ्' कहा जाता है तथा इनका उल्लेख

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश—म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पूना, 1964, पृ० 930
2. कल्हण कृत राजतरंगिणी—भाष्यकार रघुनाथ सिंह पृ० परिशिष्ट ज, 62-77
3. वही, पृ० 63
4. कल्हण कृत राजतरंगिणी—वही, पृ० 65, परिशिष्ट, ज
5. वही, पृ० वही

अपने ग्रंथ किन्नर देश में राहुल सांकृत्यायन ने भी किया है । प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने सन् 1966 ई० में इस प्रकार की एक कब्र पूह, जिला किन्नौर में देखी थी जिसमें शव के सिरहाने मिट्टी के एक मटके में कुछ अनाज तथा अन्य वस्तुएं रखी हुई थी। एक सिक्का भी अस्थिपंजर के पास पड़ा था परंतु उसका निर्माण-काल नहीं पढ़ा जाता था। प्राचीन मिस्र के लोगों में मृत्यु के उपरांत जीवनोपयोगी वस्तुओं के मृतक के साथ दफनाए जाने की प्रथा प्रचलित थी। पिरामिडों में प्राचीन काल के राजाओं के साथ जहां उनकी रानियों तथा नौकर नौकरानियों के शव मिले हैं वहां इस प्रकार की अनेक वस्तुओं का संग्रह भी प्राप्त होता है परंतु शकों की यह प्रथा इससे संबंधित प्रतीत नहीं होती भले ही दोनों का भावनात्मक संबंध रहा हो।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि शकों में मुर्दों को दबाने के अतिरिक्त शवों को वृक्षों पर लटकाने की प्रथा भी प्रचलित रही है। यदि यह सही है तो हिंदुओं द्वारा मुर्दों को जलाकर उनका अस्थिसंचय करके जल प्रवाह से पूर्व अस्थियों को वृक्षों के साथ मिट्टी के बर्तन में रखकर लटकाने की प्रथा से इसका संबंध किस सीमा तक रहा होगा, यह विचारणीय बात है।[1]

पारसियों में भी शवों को खुला छोड़कर बाद में अस्थिचयन करने की प्रथा रही है। इन बातों से स्पष्ट होता है कि मध्य एशिया के आसपास के क्षेत्रों में इस प्रकार के प्रचलन वाली जातियां रहती थीं और कालांतर में ये प्रथाएं विश्व के अन्य क्षेत्रों में फैली तथा इनमें स्थान तथा परिवेश के अनुसार परिवर्तन होते गए। शकों में मुर्दों को जलाने की प्रथा का उल्लेख भी अनेक विद्वानों ने किया है।

महाभारत[2] में शंकर सूर्य का प्रतीक भी माना गया है तथा शकों को 'श्याम' पर्याय से भी संबोधित किया गया है। शकों का सूर्यपूजक होना निश्चित है। सूर्य को महादेव अथवा शंकर या शिव कहा जाना यद्यपि शास्त्रसम्मत है परंतु शकद्वीप में सूर्य पूजा के उद्धरणों से पुष्टि होती है कि एक समय में सूर्य पूजा की प्रथा समूचे हिमालय क्षेत्र में शकों से ही फैली थी और इस जाति के लोगों ने हिमालय के ऊंचे भागों में अपना आधिपत्य स्थापित किया था। हिमाचल प्रदेश में नीरथ के स्थान पर सूर्य मंदिर इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि करता है। कुल्लू में गजां गांव की दोचा मोचा की काष्ठ-मूर्तियां, बलग के मंदिर में स्थापित सूर्य-मूर्ति, हाटकोटी के स्थान पर मिली सूर्य प्रतिमा तथा चंबा में विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध सूर्य प्रतिमाएं शकों की स्थिति की पुष्टि करती हैं। सूर्य प्रतिमाओं को जिस परिधान

1. कल्हणकृत राजतरंगिणी—रघुनाथ सिंह, पृ० वही
2. महाभारत 6/11/26 तथा 6/12/26

में दिखाया गया है, वह निश्चय ही भारतीय न विदेशी होकर प्रभाव लिए हुए हैं। रूस की स्लेख जाति, जो शक वर्ग का ही एक अवशेष मानी जाती है, में सूर्य को महादेव कहा जाता था इसकी पूजा में गेहूं की पूड़ी मक्खन के साथ खाने की प्रथा प्रचलित थी।

महाभारत में वर्णित है कि सांब को शकद्वीप से सूर्यपूजक लाने के लिए भेजा गया था। शकद्वीप में वेदवेत्ता ब्राह्मणों की एक शाखा 'मग' नाम से प्रसिद्ध थी। सांब ने अपना कुष्ठ रोग दूर करने के लिए इस जाति के ब्राह्मणों को चंद्रभागा नदी के किनारे बुलाया। महाभारत के भीष्मपर्व (12/34) में उल्लिखित है कि कृष्णपुत्र सांब के आमंत्रित किए जाने पर मग जाति के अट्ठारह कुल चंद्रभागा नदी के तट पर स्थित सांब की नगरी सांबपुर आए और उन्होंने पूजा के द्वारा सांब का कुष्ठरोग दूर किया। इसी सांब ने यादव सेना के साथ रहकर बाणासुर की नगरी पर आक्रमण किया था तथा भागवत पुराण (10/61/26) के अनुसार बाणासुर के पुत्र से युद्ध किया था।

सांबपुर का नाम 'मूल स्थान' भी बताया गया है तथा वहां वर्तमान समय में भी सूर्य मंदिर विद्यमान बताया जाता है। इतिहासकार टॉलेमी के अनुसार शक अफगानिस्तान, सीमांत पश्चिमोत्तर प्रदेश, पंजाब तथा काश्मीर के वालतिस्तान तक फैले थे। उन्हें यूनानी तथा बाल्हीक भाषाओं का ज्ञान था। विष्णु पुराण में शकों को विदेशी संस्कृति भारत में लाने का श्रेय प्राप्त है। इनके राजाओं को 'क्षत्रप' कहा जाता था। शकों की मुद्राएं तक्षशिला क्षेत्र के अतिरिक्त ईरान तथा काबुल में भी मिली हैं। मथुरा के शिलालेख में वहां के शासक राजा राजुल के पुत्र सौदास को महाक्षत्रप कहा गया है। इसका राज्यकाल प्रथम शताब्दी में 78 सन् ईस्वी माना जाता है।

महाराष्ट्र में भी शकों का आधिपत्य रहा है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि नहपान नामक राजा ने ईस्वी सन् 78 में शक संवत की नींव डाली थी। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को एक शक राजा को हराने के कारण 'शकारि' अर्थात् 'शकों का शत्रु' उपाधि दी गई थी। इनके राजाओं के नामों के साथ दमन, दम तथा रुद्रसेन शब्दों का प्रचलन रहा है। दम, दमन अथवा दामन का अर्थ अवेस्ता में सृजन करने वाले अथवा ईश्वर के लिए लिया जाता है।[1]

शाकल द्वीपी ब्राह्मण मग जाति के शक ब्राह्मण ही थे जिन्हें सांब पुराण के अनुसार सूर्य पूजा हेतु सांब अपने साथ भारत लाए थे। इस संदर्भ में पहले चर्चा की जा चुकी है। यहां केवल इतना ही कहा जाना अभिप्रेत है कि भारत में आगमन के पश्चात् शकों ने संस्कृत को अपनाया और शाकल शाखा वैदिक

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी—रघुनाथ सिंह पृ० 69, परिशिष्ट, ज

संहिताओं की महत्त्वपूर्ण शाखा हो गई । मग ईरानी शब्द मगुस जिसका अर्थ पुरोहित होता है, का अपभ्रंश है । कालांतर में यही शब्द 'मोवज़' के रूप में प्रचलित हुआ। ब्रह्म पुराण (20/71-73) में कहा गया है कि शकद्वीपी ब्राह्मणों को 'मग', क्षत्रियों को 'मगगा', वैश्यों को 'मगा' तथा शूद्रों को 'मंदगा' कहा जाता था । मार्को पोलो ने शीरवान (क्षीरवान) क्षेत्र का उल्लेख किया है जिसे मुस्लिम भूगोलवेत्ता हुदद-अल-आतये काश्पियन (कश्यप) सागर के पश्चिमी तट के क्षेत्र शीरवान से जोड़ता है। एक अन्य विद्वान हमदुल्लाह कम विनी का कथन है कि कुरु से देखंद तक का भूक्षेत्र शीरवान में सम्मिलित था। इसलिए प्राचीन कैस्पियन सागर को क्षीर सागर कहा जाना युक्तिसंगत जंचता है ।

प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है कि प्राचीनकाल में आर्य लोग आमू तथा शीर अथवा सीर दरया के मध्यवर्ती क्षेत्र में निवास करते थे। कालांतर में जब वे उन स्थानों को छोड़कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़े तो वहां अनार्य जातियों ने अधिकार किया। 'तूर्य' शब्द अनार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। पारसियों के साहित्य में आर्य, तूर्य, क्षरिय, सैन तथा दाह जातियों के उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि ये जातियां अलग-अलग थीं ।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि तूर्य तथा सरीमा शब्द शकों के लिए आया है। एक मत के अनुसार तोखनि, कुशांन, खिपोनाइत, सकरोसाह तथा तुर्क जाति की मूल जाति तूर्य है।[1]

वायुपुराण (99/3) तथा भागवत पुराण (10/22, 25, 27) के अनुसार मलेच्छ तथा यवन तुर्वसु की संतान हैं। तुर्वसु तूर्य अथवा तुर्य के समीप का शब्द होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि तुर्ग (अश्व) प्रिय होने के कारण तुर्य शब्द तुर्यवसु अथवा 'तुर', 'त्वर' का अपभ्रंश है।[2] हिमालय की वर्तमान 'तुरी' जाति का तूर्य अथवा शक जाति से क्या संबंध है, यह अध्ययन का विषय हो सकता है। शकद्वीप का अर्थ समुद्र या नदियों से घिरा हुआ भूखंड है। सप्तद्वीपों में जंबू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शक तथा पुष्कर द्वीप हैं। चंडीगढ़ से प्रकाशित अंग्रेज़ी ट्रिब्यून के दिनांक 10 मार्च, 1985 के अंक में जम्मू से 145 किलोमीटर की दूरी पर सोपोर के समीप सांबर में सात हज़ार वर्ष पूर्व के एक हाथी दाढ़ के प्राप्त होने का उल्लेख प्रकाशित हुआ है जो इस क्षेत्र की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालता है।[3]

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी, वही, पृ० 74-75, परिशिष्ट, ज
2. कल्हण कृत राजतरंगिणी—वही, पृ० 76-77
3. The Daily Tribune, Chandigarh, Dated 10th March, 1985, Page 13 Colm. II 'Prehistoric Find.'

ऐसा प्रतीत होता है कि यही स्थान पौराणिक सांबपुर रहा होगा जहां शक-द्वीप से लाकर सांब ने मग जाति के ब्राह्मणों को बसाया था। कनखेरा अभिलेख से पता चलता है कि शक लोग कुषाणवंश के लोगों की तरह कार्तिकेय की पूजा करते थे। कार्तिकेय को महासेन तथा स्कंद भी कहा जाता है। रामपुर बुशहर के पास दत्तनगर में दत्तात्रेय के मंदिर तथा उसके समीप के गांव नीरथ में सूर्य मंदिर की विद्यमानता उन क्षेत्रों में शक प्रभाव को स्थापित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं।

कुलिंद

कुलिंद जनपद व्यास नदी के ऊपरी भाग से लेकर यमुना नदी तक फैला था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस जनपद में हिमालय की निचली पर्वत श्रेणियां तथा शिवालिक क्षेत्र था। इसके पश्चिम उत्तर में त्रिगर्त तथा कुलूत जनपद स्थित थे। अलैक्जेंडर कनिंघम[2] का मत है कि इस जनपद में शिमला व सोलन के क्षेत्र भी सम्मिलित थे। सतलुज नदी किसी समय में इसकी सीमा रही होगी। अंबाला, सहारनपुर तथा सूगह इस जनपद में थे। कनिंघम का कथन है कि इस जनपद की राजधानी सूगह थी।[3] यह जनपद गढ़वाल तक फैला हुआ था। इसे महाभारत में कुणिद कहा गया है।[4]

मार्कण्डेय पुराण में लिखा गया है कि मद्रों की इन लोगों से लड़ाई हुई—'मद्रेणे-हन्यश्च कौणिदा-शतद्रुजा: कुणिदाश्च।' महाभारत के कर्णपर्व (89/2-7) के अनुसार इनमें से कुछ कौरवों की ओर से तथा कुछ अन्य पांडवों की ओर से लड़े। कनिंघम का मत है कि वर्तमान कनैत जाति के लोग, जो कुल्लू से लेकर गढ़वाल तक के क्षेत्र में रहते हैं, कुणिद जाति के ही अवशेष हैं।

कुलिंद पर्वतवासी थे, इसमें संदेह नहीं है। वर्तमान समय में पर्वतीय क्षेत्रों के चरवाहे सर्दियों में मैदानी भागों में भेड़ें ले जाते हैं, यह प्रथा, ऐसा प्रतीत होता है कि कुणिद-परंपरा का ही अवशेष है क्योंकि इस बात के संकेत मिलते हैं कि प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक मनेंद्र तथा उसके उत्तराधिकारियों ने जब मथुरा पर अधिकार करके शकों का राज्य स्थापित किया और यूनानियों को उस क्षेत्र से खदेड़ दिया तो कुलिंदों ने इस स्थिति का लाभ उठाकर मैदानी भागों की ओर

1. Sastri, K. A. Nilkanta, Ibid, p. 110
2. Cunningham A., Coins of Ancient India, Varansi, 1963, pp. 70-71
3. Ibid, PP. 70-71
4. महाभारत, द्रोणपर्व 121/14/16, कर्णपर्व 5/19

अपनी चरागाह बनाईं।[1]

कुलिंदों की दो प्रकार की मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं। प्रथम प्रकार की मुद्रा पर अमोघभूति का नाम तथा मृग की आकृति अंकित है। भारतीय शैली में ये ताँबे तथा चाँदी की बनी हुई हैं। वर्तमान हमीरपुर जिला के तप्पा मेवा, ज्वालामुखी, कांगड़ा के कतिपय अन्य स्थानों—सहारनपुर, अम्बाला तथा गढ़वाल-क्षेत्र से ये मुद्राएं प्राप्त हुई हैं।[2] इन मुद्राओं में 'अमोघमृतस महरजस राज्ञकुणदस' ब्राह्मी में अंकित है तथा अग्रिम भाग में कमल सहित लक्ष्मी की मूर्ति, एक मृग, छत्र सहित चौकोर स्तूप तथा एक चक्र उकेरित है।

छत्रेश्वर नामक राजा की मुद्रा तीसरी शताब्दी की है। इसके अग्रभाग में त्रिशूल तथा खड़े शिव की मूर्ति अंकित है। इसके पृष्ठ भाग में मृग, नन्दिपाद, वृक्ष तथा सुमेरु पर्वत आदि आकृतियां अंकित हैं। रैंपसन ने इस मुद्रा पर अंकित अक्षरों को 'भागवत छत्रेश्वर महामन' पढ़ा है। छत्रेश्वर मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव अंकित हैं तथा कुलिंद राजाओं के नाम भी मिलते हैं पर बाद की मुद्राओं में राजाओं के नाम नहीं लिखे गए हैं। ये अमोघभूति से बाद की हैं। अमोघभूति की मुद्राओं पर खरोष्ठी में 'राज्ञी कुणिदस अमोघभूति महरजस' लिखा गया है तथा ब्राह्मी के शब्द भी अंकित हैं। ये दोनों प्रकार की मुद्राएं विद्वानों द्वारा ईसापूर्व सन् 150 से 200 के बीच के काल से संबंधित बताई गई हैं। इनकी आरंभिक मुद्राओं पर यूनानी प्रभाव दिखाई देता है परंतु बाद में भारतीय प्रभाव के अंतर्गत चाँदी की मुद्राएं प्रचलित की गईं जिन पर केवल ब्राह्मी अक्षरों में राजा का नाम अंकित किया गया। मुद्राओं पर अंकित वृक्ष के संबंध में विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि यह पर्वतीय होने का प्रमाण तो है ही, साथ ही देवदार को कल्पतरु के रूप में दर्शाने का संकेत भी करता है। इतिहासकारों का अनुमान है कि समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तंभ-लेख में कुलिंदों का संदर्भ उपलब्ध न होने से स्पष्ट होता है कि यह जनपद ईसा की तीसरी शताब्दी में ही समाप्त हो गया होगा।

सम्राट् अशोक ने नेपाल से काश्मीर तक का सारा प्रदेश अपने अधिकार में

1. Sharan, M. K.—Tribal Coins: A Study, Delhi, 1972, p. 281
   तथा भगवतदत्त, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, दिल्ली, इतिहास प्रकाशन मण्डल, सं० 2017, भाग 2, पृ० 171
2. Sastri, K. A. Nilkanta, opp. cit. (Comprehensive History of India), Vol. II, p. 110
   तथा वासुदेव उपाध्याय—भारतीय सिक्के, प्रयाग, सं० 2005, पृ० 82 एवं राहुल सांकृत्यायन—हिमालय परिचय (1) 1953, पृ० 64

किया था और आचार्य मज्झिम थेर को बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए नियुक्त किया था। महावंश में हिमालय क्षेत्र में बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए उसके साथ उसके चार साथियों कस्सपगोत, दुंदुभिसर, सहदेव तथा मूलक-देव के नाम आए हैं।[1] मियां गोवर्धनसिंह ने 'हिमप्रस्थ' पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख 'हिमालय के प्राचीन प्रजातंत्र' में लिखा है कि ये नाम सांची के दूसरे स्तूप के भीतर पाए गए पत्थर के संदूक में एक धातु-मंजूषा 'सोग्गलिपुत्त' में निकले और दूसरी के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अंदर हारितीपुन, मज्झिम तथा सवहेमवताचरिय (समूचे हिमालय के आचार्य) काश्यपगोत के नाम से खुदे हैं। उस संदूकची में उन प्रचारकों के धातु (फूल) रखे थे और वह स्तूप उन्हीं धातुओं पर बनाया गया था। इन स्तूपों में पाए गए अवशेषों से अनुमति की पूरी सत्यता सिद्ध हो जाती है।

महावंश में लिखा है कि मज्झिम और उसके चार साथियों ने हिमालय के पांचों राष्ट्रों में प्रचार किया। प्रतीत होता है कि चंबा से जौनसार-बावर तक तथा गढ़वाल-कुमाऊं से पूर्वी नेपाल तक प्रत्येक देश में उन्होंने बौद्ध-धर्म का संदेश पहुंचाने का यत्न किया। कश्मीर और गांधार में यह कार्य मज्झंन्तिक और अशोक के पुत्र कुणाल ने किया। नेपाल में अशोक स्वयं भी गया था और धर्म-प्रचार का काम उसकी पुत्री चारुमती ने किया। वहां पर उसने अपने पति के नाम पर देवपतन नामक नगर बसाया। इससे सिद्ध है कि मज्झिम तथा उसके साथियों ने बौद्ध-धर्म के प्रचार का कार्य कश्मीर और नेपाल के बीच वाले प्रदेश में किया। अशोक ने हिमालय में कई स्तूप भी बनवाए। कुलूत (कुल्लू) के स्तूप का वर्णन ह्वान च्वांग (ई० 630-643) ने भी किया है। उन्होंने लिखा है कि प्रदेश के मध्य भाग में एक स्तूप है, जिसे राजा अशोक ने तथागत की पुण्यस्मृति में बनवाया। तथागत स्वयं अपने शिष्य सहित कुलूत में प्रचार करने के लिए आए थे। सेम्युअल बील[2] भी इस मत की पुष्टि करता है।

कुषाण सम्राट् कनिष्क के काल में चौथा बौद्ध धर्म-सम्मेलन संभवतः काश्मीर अथवा जालंधर में इसी क्षेत्र में हुआ था। कनिष्क शकों की कुषाण शाखा से संबंधित था। शकों की सूर्य-पूजा परंपरा के अवशेष मार्तण्ड (कश्मीर), कटार-मल जागेश्वर, जोशीमठ, नीरथ, बलग, गजां (कुल्लू), चंबा तथा अन्य अनेक स्थानों पर सूर्य मूर्तियां इसी का प्रमाण हैं कि शकों का प्रभुत्व हिमालय के बहुत

1. सत्यकेतु विद्यालंकार—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, मसूरी, 1960, पृ० 229
2. Beal, Samuel—Chinese Account of India, Cal., 1958, V, II p. 210

बड़े भाग पर रहा। कुणिदों ने पंजाब के यौद्धेय तथा अर्जुनायन से मिलकर कुषाण-वंश को खदेड़ा था। चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त ने छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर हिमालयी क्षेत्र में गुप्त राज्य की जड़ें मजबूत कीं।[1] उन्होंने बर्फ की देवी 'हेमवती' की आकृति वाली कुछ मुद्राएं भी प्रचलित की थीं[2] जो उनके हिमालय-प्रेम को दर्शाती हैं। समुद्रगुप्त ने अपने राज्य में 340 ई० में जो क्षेत्र अपने राज्य में मिलाए थे उनका उल्लेख इलाहाबाद में स्थित अशोक के शिलास्तंभ पर किया गया है। उनमें मद्र, त्रिगर्त, औदुंबर, कुलूत उत्तर पश्चिम में तथा कार्तिकपुर (कत्यूरी) मध्य हिमालय में स्थित थे।[3] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस शिलालेख में कुणिद गणराज्य का नाम नहीं मिलता जिससे प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त प्रथम (318-335) ने ही इस जनपद को अपने राज्य में मिला लिया होगा।

हिमालय की संस्कृति पर हूणों तथा घुमंतू गूजरों का भी प्रभाव है।[4] इन्हीं के बाद यह क्षेत्र छोटे-छोटे राज्यों, राणों, ठाकुरों तथा रजवाड़ों में बंट गया था। ह्वेनत्सांग ने जालंधर का वर्णन 'शे-लन-तलो' के नाम से किया है। यह त्रिगर्त-राज्य का दूसरा नाम था। उसके मतानुसार इस राज्य की पूर्व से पश्चिम तक लंबाई 67 मील तथा उत्तर से दक्षिण को चौड़ाई 133 मील थी। कनिंघम ने अपने ग्रंथ 'एन्शियण्ट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया'(पृ० 115)में चंबा, मंडी, सुकेत तथा दक्षिण में शतद्रु राज्य भी सम्मिलित बताए गए हैं।[5] परंतु यह सूची सर्वसम्मत नहीं है क्योंकि चंबा के निम्नलिखित राजाओं, जिनका वर्णन ताम्रलेखों तथा शिलालेखों से मिलता है, का कहीं भी उल्लेख उनके यात्रा वर्णन में नहीं है जो चंबा को जालंधर का भाग मानने में सबसे बड़ी कठिनाई है। ये राजा हैं—आदित्यवर्मन (सूर्यवंशी), वाला वर्मन, दिवाकर वर्मन तथा मेरुवर्मन (700 ई०)।

1. Baldev kumar—Early kushanas, Delhi, 1973, p. 103
2. Hariram Justa—Himalaya aur Bharat (Him Prastha Magazine, April, 1965) p. 14
3. Mookerji, Radha kamal, Gupta Empire, Bombay, 1962, p. 52
4. Ross, H. A.—Glossary of Tribes and Castes of Punjab and North Western Frontier, Lahore, 1919, Vol. I, p. 46
5. Cunningham, Alexander, Ancient Georgaphy of India 1964, p. 115

इन राजाओं में से अवश्य ही कोई राजा उस समय उस क्षेत्र पर राज्य कर रहा होगा।

निरमंड के ताम्रलेख को कुछ विद्वानों ने हर्षकालीन तथा भंडारकर ने जालंधर-राज्य के अंतर्गत लिखा गया दस्तावेज माना है। यह समुद्रसेन के काल में छठे वर्ष लिखा गया माना जाता है। ह्वेनत्सांग ने जालंधर के नगरधन विहार में चंद्रवर्मा नामक विद्वान के पास रहकर चार मास तक अध्ययन किया था। यात्रा-विवरण से पता चलता है कि हर्ष ने उसे सीमांत प्रदेश तक पहुंचाने के लिए जालंधर के राजा उदित को आदेश दिए थे।[1]

ह्वेनत्सांग जालंधर के बाद कुलूत गया था और बाद में शतद्रु-राज्य में लौटा था। शतद्रु राज्य का घेरा 333 मील तथा कुलूत का 500 मील था। कनिंघम का विचार है कि इस राज्य (शतद्रु) की सीमाएं शिमला-पहाड़ियों तथा सरहिंद तक रही होंगी। वे इस प्रदेश की राजधानी सरहिंद को मानते हैं[2] परंतु यह मात्र अनुमान है जो किसी प्रमाण पर आधारित नहीं है। मात्र दूरी के आधार पर निर्णय लिए जाने में कठिनाइयां हैं।

बिलासपुर के प्राचीन मंदिर षण्मुखेश्वर (खणमुखेश्वर) को हर्मन गोट्ज ने शतद्रु राज्यकालीन अवशेष माना है।[3] गौरीशंकर चटर्जी का मत है कि कुलूत की भांति शतद्रु भी हर्षवर्द्धन के अधीन था।

त्रिगर्त जनपद के साथ लगते हुए कुलूत जनपद का उल्लेख पाणिनी ने अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी में किया है।[4] उसके साथ एक ओर औदुंबर तथा दूसरी ओर कुलिंद जनपदों की सीमाएं लगती थीं।[5] यह जनपद व्यास नदी की ऊपरी घाटी में फैला हुआ बताया गया है जिससे इसकी पहचान वर्तमान कुल्लू के साथ सहज ही हो जाती है। वैसे अनेक ग्रंथों यथा बृहत्संहिता, मार्कण्डेय पुराण, रामायण, महाभारत तथा विष्णु पुराण में भी इसे उत्तर की ओर स्थित जनपद बताया गया है।

इतिहासकारों का मत है कि कश्मीर तथा त्रिगर्त को छोड़कर कुलूत सबसे

1. गौरीशंकर चटर्जी—हर्षवर्द्धन इलाहाबाद, 1950, पृ० 158-59
2. Cumingham Alexander—Ancient Geography of India, Varanasi, 1963, pp. 124-125
3. Goetz Herman—Earl Woodeny Temples of Chamba, Leiden, 1955, Page 61
4. वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारत, काशी, सं० 2012, पृ० 69
5. Sastri, K. A. Nilkanta—Comprehensive History of India, Bombay, 1957, Vol. II, p. 136

प्राचीन जनपद रहा है। यहां के राजा चित्रवर्मा ने चंद्रगुप्त मौर्य का विरोध किया था। औदुंबरों की सीमा के साथ स्थित होने के कारण इसे उनसे भी प्राचीन मानने में कठिनाई है परंतु एक बात का आभास मिलता है कि प्राचीन काल में इस राज्य की सीमाएं घटती-बढ़ती रही हैं।

त्रिगर्त तथा औदुंबरों का जनपद एक ही प्रतीत होता है क्योंकि जिन क्षेत्रों में औदुंबरों की मोहरें मिली हैं, वे ही त्रिगर्त के भाग रहे हैं। त्रिगर्त-षष्ठ का अर्थ त्रिगर्त क्षेत्र के छः जनपदों से लिया जाता है परंतु पाणिनीकाल में एक ओर औदुंबर क्षेत्र तथा दूसरी ओर कुलिंद क्षेत्र की स्थिति त्रिगर्त जनपद को अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण प्रदर्शित करती है। औदुंबरों के सिक्कों का वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। कुलूतों के बारे में एक प्राचीन मुद्रा उपलब्ध हुई है जिस पर 'राजनः कुलूतस्य विरायसस्य' शब्द[1] अंकित हैं। यह मुद्रा ईसा से प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी पूर्व प्रचलित रही है। राजा 'विरायस' की मुद्राओं पर संस्कृत भाषा को ब्राह्मी लिपि में लिखा गया है तथा उसी में खरोष्ठी में प्राकृत भाषा के 'राना' शब्द का उल्लेख भी है।

1. Sastri, K. A. Nilkanta, Ibid, p. 136

दरद

विद्वानों का मत है कि हिमाचल प्रदेश की बोलियों पर दरद, पैशाची तथा शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है। इसका अर्थ यह हुआ कि दरद, पिशाच तथा शौरसेन प्रभुत्वसंपन्न लोग रहे होंगे। हिंदी भाषा को आर्य-भाषा परिवार की महत्त्वपूर्ण इकाई माना जाता है। दरद लोग कौन थे, इस संबंध में अनेक संदर्भ उपलब्ध हैं। इस जाति के संबंध में हरिवंश पुराण में 42वें पर्व (श्लोक 37) में उद्धरण है कि कश्मीर के राजा गोनर्द के साथ दरदों के राजा ने भी श्रीकृष्ण के विरुद्ध जरासंध का पक्ष लेकर मथुरा में युद्ध किया था—

अहं च दरदाश्चैव चेदिराजश्च वीर्यवान्।
दक्षिणं शैलनिचयं दारयिष्यामि देशिताः ॥

इसी युद्ध में दरदों के राजा की मृत्यु हो गई थी। इन्हें क्षत्रिय कहा गया है परंतु महाभारत के अनुशासन पर्व के अनुसार ब्राह्मणों से ईर्ष्या रखने के कारण ये पतित हो गए थे। वनवासकाल में सुबाहू की राजधानी जाते समय पांडव दरद-देश से होकर गुजरे थे।

महाभारत आदि पर्व में बताया गया है कि बाह्लिक क्षेत्र का दरद राजा महाभारत के युद्ध में दुर्योधन के पक्ष में लड़ा था। सुबाहु कि राजधानी हिमालय की तलहटी में स्थित थी और वह महाभारत के युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ा था। अपने वनवासकाल में पांडव जब कुछ समय तक सुबाहु के यहां रहे तो अर्जुन उनके साथ नहीं था।[1] सुबाहु पर्वतीय जातियों, यथा, किरात, तंगण, कुलिंद आदि लोगों का राजा बताया गया है।

महाभारत वन पर्व (62/18 तथा 66/13) में चेदि देश के राजा सुबाहु का वर्णन भी उपलब्ध है। यह वीरबाहु राजा का पुत्र तथा दमयंती का मौसेरा भाई था। द्रौपदी वनवासकाल में सैरंध्री के रूप में इसी के यहां रही थी। महाभारत में उपलब्ध विवरण के आधार पर दरद पूर्वोत्तर दिशा का देश माना

1. महाभारत : वनपर्व 141/24-30, 174/15

गया है। उद्योग पर्व (4/15) के अनुसार पांडवों ने दरदों को महाभारत के युद्ध में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया था परंतु भीष्म पर्व (9/67 तथा 51/16) के अनुसार उन्होंने कौरवों की ओर से युद्ध में भाग लिया। द्रोण पर्व (70/11) के अनुसार श्रीकृष्ण ने इस देश को जीता था। वामन पुराण (13/40) में दरदों का उल्लेख कंबोजों के साथ हुआ है—

> कांबोजा दरदाश्चैव बर्बरा ह्यङ्गलौकिकाः।
> चीनाश्चैव तुषाराश्च बहुला बाह्यतोदराः।।

यह क्रम अन्य कुछ पुराणों यथा मार्कंडेय, वायु, ब्रह्मांड आदि में भी संदर्भित हुआ है। इसके अतिरिक्त वायु तथा ब्रह्मांड पुराणों में 'दरदांश्च सकाश्मीरान्' के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि कश्मीर क्षेत्र का 'दरदिस्तान' अथवा 'दरस स्थान' ही प्राचीन दरद क्षेत्र है, भले ही उसकी प्राचीन तथा वर्तमान सीमाओं में अंतर दिखाई देता हो। दरद जाति के उल्लेख पिशाच, तंगण, परितंगण, पुण्ड्र, वाहिक आदि के साथ हुए हैं तथा ग्रियर्सन ने दरद पैशाची को ईरानी तथा भारतीय भाषा के मध्य की भाषा स्वीकार किया है।[1]

ऐसा अनुमान है कि यूनानी इतिहासकारों द्वारा वर्णित दरदाई जाति तथा बौद्ध जातकों में उल्लिखत दद्दर क्षेत्र के निवासी दरद ही थे। महाभारत के सभा पर्व (10/32) में जिस दर्दुर पर्वत का उल्लेख है वह सुमेरु पर्वत के समीप स्थित बताया गया है। पौराणिक सुमेरु पर्वत को अनेक विद्वान वर्तमान पामीर क्षेत्र मानते हैं जिससे दरद क्षेत्र की स्थिति उससे दक्षिण में होने के कारण वर्तमान दरदिस्तान ही बैठती है।

डॉ० रघुनाथसिंह ने अपने ग्रंथ 'कल्हण कृत राजतरंगिणी' में लिखा है कि चेतिय जातक में गाथा है कि दद्दरपुर के उपचर के पांच पुत्रों ने पांच नगर बसाए थे जिनके नाम हत्थिपुर (हस्तिनापुर), अस्सपुर (अंग में), सीहपुर (लालराष्ट्र उत्तरी पंजाब), उत्तर पांचाल (संभवतः अहिच्छत्र) तथा दद्दरपुर थे। उन्होंने बताया है कि दद्दरपुर का नाम इसलिए पड़ा कि उस क्षेत्र में दो पर्वतों के मध्य घर्षण से दद्दर ध्वनियां उठती रहती थीं। इस प्रकार दरदाई जाति के लोगों का दद्दरपुर में रहना निश्चित हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दरद भारत के उत्तर पश्चिमी सीमांत क्षेत्र में निवास करते रहे हैं। जीवन की कठिनाइयों, सीमा पर अन्य जातियों के आक्रमणों तथा अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संघर्षशील होने के कारण इस जाति के लोगों के संबंध में अनेक प्रकार की परस्पर विरोधी धारणाएं समय-समय पर रचित साहित्य में देखने को मिलती हैं। सिंधु नदी के आसपास इनका क्षेत्र पश्चिम से पूर्वी सीमांत तक फैला था, इस संबंध

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी, रघुनाथसिंह, पृ० 123

में अनेक ग्रंथों में वर्णन उपलब्ध है। उनका देश सिंधु उपत्यका का भाग रहा है तथा आभीरों तथा काश्मीरों के साथ उनके संबंध थे।[1]

सभापर्व (27/27) के अनुसार दिग्विजय काल में अर्जुन ने इनके देश को जीता था। अपनी पराजय को स्वीकार करते हुए दरदों ने राजा युधिष्ठिर को उपहार भी दिया था। दरद पैशाची भाषा का प्रभावशाली होने का कारण इसका उच्चारण विधान तथा च़, छ़, ज़, झ़ व ल़ की विशेष ध्वनियां हैं। दरद वीर तथा स्वभाव से अभिमानी होते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में उनकी भाषा का प्रभाव हिमालय के सुदूर क्षेत्रों तक कैसे फैला, यह शोध का विषय है।

1. म० द्रोण पर्व, 2/184 तथा वि० पु० 111/45-51

नाग

नाग हिमाचल प्रदेश की महत्त्वपूर्ण पौराणिक जाति है। नाग प्राचीन मानव जातियों में से एक तथा कश्यप एवं कद्रू की संतान मानी गई है। कश्यप के नाग-पुत्रों में अनंत, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख तथा कलिक प्रसिद्ध हैं। पुराणों में नागों को शक्तिशाली जाति बताया गया है तथा जनमेजय के सर्पसत्र में नागों की समाप्ति के लिए प्रयत्न वर्णित हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि नाग जाति के साथ हुए युद्धों को ही सर्पसत्र अथवा नागयज्ञ का नाम दिया गया है। पद्मपुराण में बताया गया है कि प्रजा को कष्ट देने के कारण ब्रह्मा ने इन्हें श्राप दिया था कि जनमेजय के नागयज्ञ में तथा गरुड़ के द्वारा इस जाति का समूल नाश हो जाएगा। नीलमत पुराण में वर्णित 13 जातियों में पिशाच, दरद, गांधार, शक, खश, तंगण, मंडव तथा मद्र आदि के साथ नागों का वर्णन भी अंकित है जो इस जाति को मानव-जाति सिद्ध करता है।

महाभारत में नागवंश की नामावलि में वासुकिवंश, तक्षकवंश, ऐरावतवंश, कौरव्यवंश तथा धृतराष्ट्रवंश के अंतर्गत दिए गए नागों के नामों से प्रकट होता है कि पुराणों में नागों का वर्णन साहित्यिक तथा प्रतीकात्मक है तथा क्योंकि नाग का *अर्थ सांप, पवन, हाथी तथा वायु भी होता है अतः इस जाति के लोगों को* मानववंश से अलग किए जाने की भ्रांति उत्पन्न हुई।

ऊपर वर्णित कौरव्य तथा धृतराष्ट्र वंशों को देखने से यह भी भ्रम होता है कि संभवतः कौरव तथा पांडव भी नाग-जाति की शाखाओं से संबंधित थे परंतु तक्षकवंश के साथ पांडव वंशीय जनमेजय की शत्रुता के आख्यान से पता चलता है कि संभव है उक्त दोनों वंशों के नाग-जाति के समर्थकों के कारण ये नाम पड़े हों। नागों के स्थान नागलोक, नागधन्वा-तीर्थ तथा नागपुर दिखाए गए हैं। इनमें से नागलोक को कुछ विद्वान वर्तमान अमरीका मानते हैं तथा महाभारत में इस लोक का राजा वासुकि दिखाया गया है। नागपुर जहां का राजा पद्मनाभ नाग था, महाभारत के शांतिपर्व के अनुसार नैमिषारण्य में गोमती नदी के किनारे का एक नगर है जो वर्तमान नागपुर प्रतीत होता है। नागधन्वातीर्थ में वासुकि

का निवास स्थान था जहां उसका नागराज के पद पर अभिषेक हुआ था। यह नगर सरस्वती नदी के किनारे विद्यमान था। यदि वर्तमान घग्घर नदी को सरस्वती नदी मान लिया जाए तो यह स्थान वर्तमान कालका अथवा इसके कहीं समीप स्थित होना चाहिए।

कुछ विद्वानों का मत है कि वर्तमान सिरसा प्राचीन सरस्वती थी तथा अन्य इस नदी को शिवालिक पर्वतमाला से उद्भूत होकर कच्छ की खाड़ी तक जाने की बात मानते हैं। इस संबंध में गत 13फरवरी, 1985 को कुरुक्षेत्र में 'भारतीय इतिहास संकलन समिति' के तत्वावधान में आयोजित विचार-गोष्ठी का 20 फरवरी, 1985 को 'दैनिक ट्रिब्यून' में प्रकाशित विवरण द्रष्टव्य है।

नागधन्वातीर्थ की खोज प्राचीन सरस्वती के मार्ग पर बसे हुए किसी शहर के अवशेषों के आधार पर ही संभव है। पुराणों में नागों के दो नगरों—मथुरा तथा चंपावती का वर्णन है। इस वर्णन के अनुसार नौ नागों ने चंपावती में तथा सात नाग राजाओं ने मथुरा पर राज्य किया। अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, छांदोग्योपनिषद् तथा गृह्य सूत्र आदि ग्रंथों में नागपूजा का उल्लेख है तथा उन्हें एक जाति के रूप में दर्शाया गया है।[1] अन्य पुराणों से भी यही बात पुष्ट होती है कि नाग एक सशक्त जाति के लोग थे।[2]

शतपथ ब्राह्मण में वृत्र को सर्प तथा दानव दोनों बताया गया है। कनिंघम ने जहां नागों को नाग-पूजक माना है वहां फर्गुसन उन्हें अपने ग्रंथ 'ट्री एण्ड सर्पेण्ट वरशिप' में तुरानी मानते हैं। कर्नल टॉड के ग्रंथ 'एनल्स ऐंड एंक्टिवीटीज़ ऑफ राजस्थान' में उन्हें शकद्वीप के निवासी माना गया है। इसी ग्रंथ के अनुसार वे 'स्कार्हथिया' अर्थात् शेषनाग देश निवासी थे।

बैनर्जी शास्त्री ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'असुर इंडिया' (पृ० 96) में उन्हें असुर जाति की शक्ति तथा रीढ़ की हड्डी माना है और बताया है कि नागों के पतन के पश्चात् भारत में असुर जाति के लोगों का ह्रास हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि नागों तथा असुरों में अंतर नहीं था तथा वे एक ही जाति के लोग थे। प्रसिद्ध इतिहासकार ए० एन० बैनर्जी भी असुरों की एक शाखा को नाग जाति मानते हैं परंतु यदि ऐसा हो तो उन्हें आर्य वर्ग में रखने में कठिनाई अनुभव होगी। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार नाग जाति अनार्य थी और वे कश्मीर के हुंज़ा क्षेत्र के निवासी थे। वे अनेक भाषाएं बोलते थे और उनकी प्रधान भाषा का नाम कुरुशस्की था। कुछ विद्वान उन्हें सूर्यपूजक मानते हैं तथा बताते हैं कि इस जाति के लोग अपना टोटम (जाति चिह्न) नाग का फण रखते थे जिसके कारण वे

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी—रघुनाथ सिंह-परिशिष्ट 'घ' पृ० 26-27
2. पद्मपुराण, भूमिखण्ड 28/45, हरिवंश पुराण 1/7/26-27

कालांतर में 'नाग' नाम से पुकारे जाने लगे। इस जाति के लोग सांपों को नहीं मारते थे और अपने वंश की व्युत्पत्ति नागों से मानते थे। कुछ लोग उन्हें द्रविड़ वंश से भी संबद्ध करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न इतिहासकारों ने अपनी-अपनी मान्यता के संबंध में तर्क देकर अपने विचारों को व्यक्त किया है तथा अंतिम निर्णय की स्थिति अभी संभव नहीं हुई है। नाग जाति का अस्तित्व मानव जाति के अंतर्गत रहा है, इसमें दो राय नहीं हो सकती परंतु यदि हम उन्हें सूर्यपूजक मानें तो वे शकों का एक वर्ग होते हैं और यदि असुर वर्ग की शाखा मानें तो इस वर्ग के लोगों के साथ उनके मतभेद नहीं होने चाहिए थे, यह मानना आवश्यक होगा।

वाल्मीकि-रामायण में भोगवती नगरी में नागों के आधिपत्य का उल्लेख है। इस नगर पर रावण ने विजय प्राप्त की थी।[1] नागराज तक्षक की राजधानी तक्षशिला होने के अनेक प्रमाण महाभारत तथा अन्य पुराणों में उपलब्ध हैं। आदि पर्व में बताया गया है कि राजा जनमेजय ने तक्षक नाग को दंड देने के लिए तक्षशिला पर आक्रमण किया था तथा नाग जाति का संहार करने की प्रतिज्ञा की थी। बाद में आस्तीक मुनि के अनुरोध पर उन्होंने नाग यज्ञ का आयोजन बंद कर दिया था जिससे नागों का संहार रुक गया था।

तक्षक को इंद्र का मित्र बताया गया है तथा महाभारत आदि पर्व (219/13) में उसकी कुरुक्षेत्र में भी उपस्थिति बताई गई है। आस्तीक ऋषि भृगुवंश में उत्पन्न जरत्कारू ऋषि तथा तक्षक की बहिन का पुत्र था। इसकी माता का नाम भी जरत्कारू था जो बाद में अपने भाई वासुकि के घर रही। जब इंद्र ने तक्षक की नाग-यज्ञ से रक्षा करने का यत्न किया तो पुरोहितों ने तक्षक को न आता देखकर 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' मंत्र पढ़ा जिसका पता चलने पर इंद्र ने तक्षक को मुक्त करके अपनी प्राण रक्षा की। आस्तीक अपने मधुर वचनों से राजा जनमेजय को प्रसन्न किया और उससे सर्पसत्र रोक देने का वर मांगा।

भागवत पुराण (9/48) में इंद्र द्वारा आस्तीक की पूजा का वर्णन है। सर्पसत्र बंद होने का दिन ही नाग-पंचमी है। कश्मीर क्षेत्र में नाग-परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। नागों से संबंधित अनेक त्योहार उत्सव हैं परंतु इस विश्वास में सांपों से संबंधित अनुष्ठान ही प्रायः प्रमुख हैं। नाग देवता जो संपूर्ण हिमालय में, वर्षा, पानी तथा फसल के देवता माने जाते हैं, इस संस्कृति के लोगों के अवशेषों के रूप में स्वीकार किए गए हैं परंतु इस धारणा के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है कि संपूर्ण नाग जाति के लोग कालांतर में देवी-देवताओं में परिणत हो गए हों।

1. वाल्मीकि-रामायण : सुन्दर काण्ड 12/21-22 तथा अन्य

यह कहना असंगत नहीं होगा कि राम तथा कृष्ण को भगवान् मानने पर भी उनके संपूर्ण वंशजों को बाद में देवताओं के रूप में नहीं पूजा गया फिर नाग जाति की देव-रूप में पूजा कैसे संभव हो सकती है। सांप-पूजक नाग जाति श्लेषात्मक रूप से इस धारणा के पीछे पूर्वाग्रह का कारण प्रतीत होती है। जैसा कि पहले कहा गया है वर्तमान समय में भी नाग गोत्रीय लोगों की हिमाचल प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में विद्यमानता है। वे इसी मानव वर्ग से संबंधित प्रतीत होते हैं। कश्मीर-क्षेत्र में नागों का प्रभुत्व रहा तथा नागों की पिशाचों के साथ मित्रता रही, इसका वर्णन नीलमत पुराण में उपलब्ध है। पिशाचराज निकुम्भ की नागराज के साथ मित्रता का उल्लेख इस दिशा में महत्त्वपूर्ण है।

निकुंभ राक्षस षट्पुर में रहता था। हरिवंश पुराण में षट्पुर का वर्णन उपलब्ध है। पुराणों में जिस निकुंभ का वध श्रीकृष्ण के द्वारा बताया गया है वह षट्पुर का निवासी था परंतु महाभारत के आदि पर्व (58/26) में कश्यप तथा दनु के एक पुत्र, जो दानव था, का नाम भी निकुंभ बताया गया है।

नीलमत पुराण में नागराज नील तथा पिशाचों के राजा निकुंभ के आदर सत्कार का आख्यान यह स्पष्ट करता है कि पुराणों में वर्णित कश्यप नाग, पिशाच, दैत्य, दानव तथा गरुड़ जाति-पुरुषों के आदि पुरुष थे और आपस में इन जातियों में यदाकदा मनमुटाव हो जाने पर भी मित्रता के लिए प्रयत्न होते रहते थे।

'एपिक माइथॉलाजी' में हापकिन्स ने गरुड़ों तथा तक्षकों को मानव जाति से संबंधित माना है। कुछ विद्वान नागों को द्रविड़ों के साथ भी जोड़ते हैं परंतु यह मत पुष्ट आधार की अपेक्षा रखता है। वेदों में वर्णित वृत्र-कथानक में बताया गया है कि वृत्र ने इंद्र से अपनी रक्षा के लिए अहि अथवा सर्प का रूप धारण किया था। शतपथ ब्राह्मण में वृत्र दानव बताया गया है और उसका शाब्दिक अर्थ अंधकार अथवा शत्रु है। बौद्ध-साहित्य तथा जातकों में भी नाग-जाति के अनेक उल्लेख हैं। वर्तमान नागालैंड तक यह जाति पर्वतीय क्षेत्र में फैली थी। नाग कश्मीर के मूल निवासी थे अतः पिशाचों तथा आर्यों के आगमन पर उनके साथ युद्ध होना स्वाभाविक है।

श्री रघुनाथसिंह का कथन है कि पिशाच उत्तरी पंजाब तथा त्रिगर्त के पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करते थे।[1] महाभारत में वर्णित नागतीर्थ के संबंध में उनका मत है कि प्रथम नागतीर्थ कुरुक्षेत्र की सीमा पर स्थित था तथा द्वितीय स्थान कनखल के समीप था जो नागराज कपिल का स्थान था।

महाभारत वन पर्व (83/14/, 84, 33) में बताया गया है कि इस स्थान

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी—रघुनाथ सिंह, परिशिष्ट घ, पृ० 34-35

पर स्नान करने से एक सहस्र कपिला गायों के दान का फल मिलता है। नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जातियां शिवपूजक रही हों तो आश्चर्य नहीं है क्योंकि नागों का सर्पों के रूप में शिव के साथ अब भी संबंध है। भूत, प्रेत तथा पिशाचों को शिव के अनुचर कहने के पीछे भी इन जातियों का शिव-प्रेम झलकता है, भले ही बाद के साहित्य में इन वर्गों को मानवेत्तर जातियां माना जाने लगा। नाग देवों की मूर्तियों में आधा भाग मनुष्य तथा आधा सांप का दिखाए जाने की परंपरा रही है और अति प्राचीन मूर्तियों में तो उन्हें ब्राह्मणों की तरह यज्ञोपवीत, मुकुट तथा कण्ठहार से युक्त प्रदर्शित किया गया है। उनके सिर के ऊपर छत्र अहिफन के आकार का दिखाया जाता था। इस प्रकार की मूर्तियों को खंडित किए जाने का भी एक युग आया और अब तो मंदिरों के दरवाजों पर सांपों की आकृतियां बनाए जाने की प्रथा प्रचलित हो गई है।

नाग-राजाओं की मुद्राओं में 'मित्र' तथा 'दत्त' शब्द लिखे गए उपलब्ध हुए हैं। मथुरा, उत्तर प्रदेश के अन्य भागों तथा पंजाब से इस आशय की विभिन्न मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। नाग-पूजा तथा नाग-राजाओं के इतने अधिक विवरण भारतीय इतिहास व पुराण-साहित्य में प्राप्त होते हैं कि इस जाति को भारत ही नहीं, बल्कि अन्य देशों यथा—दक्षिण पूर्व एशिया, कम्बोडिया, पेरु, मैक्सिको, उत्तरी अमरीका, अरब, यूनान, रोम, चीन तथा जापान आदि देशों में भी अपनी संस्कृति को फैलाने का अवसर मिला।

त्रिगर्त

ऋग्वेदकालीन नदियों में दृष्द्वती तथा आपया नदियों के नाम सरस्वती के साथ आए हैं। सरस्वती तो ऋग्वैदिक काल की अति पवित्र नदी है। महाभारत[1] में भी इसका समुचित उल्लेख है। दृष्द्वती को वर्तमान घग्घर तथा आपया को मारकंडा माना जाता है। मारकंडा नदी सिरमौर में बहती हुई काला अंब के पास अंबाला जिला में प्रवेश करती है तथा घग्घर कालका के पास हरियाणा में प्रवेश करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सरस्वती भी इन दोनों नदियों की तरह हिमालय से निकलकर मैदानी भागों में बहती हुई कुरुक्षेत्र तक पहुंचती थी।

पौराणिक काल में इन क्षेत्रों में अनेक जनपद प्रादुर्भूत हुए। पुराणों के भुवन-कोषों में मध्य, प्राच्य, उदीच्य दक्षिणपथ, अपरांत, विन्ध्यपृष्ठ तथा पर्वत आदि सात प्रकार के जनपदों का उल्लेख है। पाणिनी ने पश्चिमी हिमालय के जनपदों का उल्लेख उदीच्य नाम के अंतर्गत किया है।[2] इन जनपदों का एक भाग त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक तथा दूसरा सिंध से कापिशी-कंबोज तक फैला हुआ था।

त्रिगर्त से दार्वाभिसार जनपदों में त्रिगर्त, गब्दिका, युगंधर, कालकूट, भरद्वाज कुलूत तथा कुलिंद आदि जनपद थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्तमान हिमाचल का पर्याप्त भाग इन जनपदों के अंतर्गत आता था।

ऐत्रेय ब्राह्मण के अनुसार उत्तर मद्र सुदूर हिमालय में उत्तर कुरु का पड़ौसी देश था। मद्रों की राजधानी स्यालकोट थी। इसका नाम मद्रदेश पर्याप्त समय तक प्रचलित रहा। पाणिनी[3] का कथन है कि इसका एक भाग त्रिगर्त तक फैला हुआ था। मद्रों की यद्यपि अभी तक मुद्राएं नहीं मिली हैं परंतु समुद्रगुप्त के

1. सरस्वती पुण्यतमा नदीनां शुचियती गिरिभ्य आसमुद्रातु।
   ईजानाय पुण्यतमाय राज्ञेघृतपयो दुदुहुर्नाहुषाय।।—महाभारत 6/62
2. धर्मवीर—पंजाब का इतिहास : इण्डियन प्रेस लि० इलाहाबाद, 1950, पृ० 94, 99
3. Roy Chaudhry, H. C.—Political history of Ancient India, Bombay, 1957, Vol. II, p. 132

इलाहाबाद के स्तंभ-लेख में इनका नाम अंकित है ।[1]

पाणिनी ने त्रिगर्त के आयुधजीवी संघों का उल्लेख किया है इसका प्राचीन नाम जालंधरायण भी बताया गया है । रावी, व्यास तथा सतलुज के मध्य भाग को त्रिगर्त कहा जाता था ।[2]

आचार्य हेमचंद्र ने त्रिगर्त का उल्लेख 'जालंधरास्त्रिगर्ता स्युः' कहकर त्रिगर्त को जालंधर के अंतर्गत बताया है। महाभारत के द्रोणपर्व में त्रिगर्त के राजा सुशर्मचंद्र (सुशर्मा) तथा उसके चार भाइयों, सुरथ, सुधर्मा तथा सुबाहु आदि का वर्णन आया है।

सुशर्मचंद्र ने कौरवों का साथ दिया था तथा महाभारत के आश्वमेधिक पूर्व अध्याय 74 में त्रिगर्त के राजा सूर्यवर्मा ने अर्जुन का घोड़ा रोका था । सूर्यवर्मा के दो भाई केतुवर्मा तथा घृतवर्मा थे। त्रिगर्त का प्रथम राजा भूमिचंद्र था ।[3] वंशावली के अनुसार सुशर्मा 231वां राजा बताया जाता है।

राजतरंगिणी में त्रिगर्त षष्ठ के अंतर्गत छः त्रिगर्तों अर्थात् संघ-राज्यों का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं—1. कोण्डोपरथ, 2. दाण्डकि, 3. क्रोष्टकि, 4. जालमनि, 5. ब्राह्मगुप्त तथा 6. जानकि । ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में त्रिगर्तों की ब्राह्मी लिपि में 'त्रिकता' शब्द अंकित मुद्राओं की उपलब्धि का उल्लेख श्री के० ए० नीलकांत शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'कम्प्रिहैंसिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के दूसरे भाग के पृ० 110 पर किया है। ये चौकोर मुद्राएं हैं जिन पर एक ओर खरोष्ठी में लिखा गया है।

1. R. C. Majumdar - History and Culture of Indian People : Age of Imperial Unity, Bombay, 1953, Vol. II, p. 160
2. Punjab Government, Punjab District Gazetteer Vol. VIII A Kangra, 1924-25, Lahore, 1926, p. 51
3. भगवत दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, लाहौर, 1935, पृ० 26, भाग ।

औदुम्बर

विष्णु पुराण में त्रिगर्त तथा किणिन्द वर्गों के साथ औदुम्बरों का वर्णन भी आया है। महाभारत के सभा पर्व में भी औदुम्बरों का उल्लेख हुआ है जिसमें उन्हें उत्तर के निवासी बताया गया है। औदुम्बरों की अपनी मुद्राएं भी मिली हैं तथा उनका उल्लेख मद्रों के साथ हुआ है।[1] अनुमान है कि औदुम्बरों का राज्य रावी और व्यास नदियों के ऊपरि भागों में रहा होगा। पठानकोट तथा नूरपुर के क्षेत्र औदुम्बरों के राज्य में सम्मिलित बताए जाते हैं। उन्हें मद्रों की भांति शालव वंश से संबंधित माना जाता है। वे अपने आपको ऋग्वैदिक ऋषि विश्वामित्र की संतान मानते थे।[2]

औदुम्बरों की मुद्राएं हमीरपुर, ज्वालामुखी तथा पठानकोट में उपलब्ध होने से इस बात की पुष्टि होती है कि ये क्षेत्र औदुम्बरों के अधिकार में रहे हैं। पतंजलि ने औदुम्बरावती[3] नदी का उल्लेख भी किया है परंतु अब उसका सही पता लगाना संभव नहीं है। कुछ विद्वान उसे गुरदासपुर के आसपास मानते हैं। उनका कथन है कि इसी नदी के किनारे औदुम्बरों की राजधानी रही होगी।

यह भी अनुमान है कि औदुम्बर बौद्ध धर्म में आस्था रखते थे परंतु इस बात की पुष्टि नहीं हो सकी है। औदुम्बरों की अब तक तीन प्रकार की मुद्राएं मिली हैं। पहले प्रकार की मुद्रा चौकोर तथा तांबे की है। यह सबसे पहले गण द्वारा तैयार की हुई प्रतीत होती है। यह सर्वथा भारतीय ढंग की है परंतु बाद की मुद्राओं पर पहल्व तथा कुषाण प्रभाव झलकता है। इन पर राजाओं के नाम

1. Przyluski, J. Ancient People of the Punjab, Cal. 1960, p. 3, 12
2. Rapson, E. J. Cambridge History of India, Delhi, 1955, Vol I, p. 476

Puri (Dr.) Baij Nath—India in the Time of Pantajali, Bombay, 1957, p. 7

के साथ औदुम्बर गण का नाम ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों में अंकित मिलता है। ये ईसा से प्रथम शताब्दी पूर्व की प्रतीत होती हैं। यह भी संभव है कि ये इससे भी प्राचीन काल की हों। इनकी मुद्राओं पर जिन चार राजाओं के नाम मिलते हैं वे शिवदास, रुद्रदास, महादेव और घरघोश हैं। इनमें महादेव अत्यंत पराक्रमी राजा था और उसने मथुरा के राजा उत्तम दत्त पर विजय प्राप्त की थी।[1]

उत्तम दत्त की कुछ मुद्राओं पर महादेव का नाम अंकित मिलने से इस बात की पुष्टि होती है। त्रिशूल तथा वृक्ष और हाथी के चित्र भी औदुम्बरों की मुद्राओं में मिलते हैं। कतिपय मुद्राओं में, अगले भाग में वृक्ष, हाथी तथा महादेव का नाम तथा पिछले भाग में दो मंजिल की इमारत, त्रिशूल तथा ब्राह्मी लिपि में उपाधि सहित राजाओं के नाम अंकित मिलते हैं जो औदुम्बरों के शौर्य के द्योतक हैं। घरघोश की मुद्राएं दूसरे प्रकार में रखी जा सकती हैं। ये चाँदी की हैं तथा इनमें एक ओर मनुष्य की आकृति है जिस पर चर्मयुक्त शिव दर्शाए गए हैं तथा इसके साथ ही खरोष्ठी लिपि में 'मह देवस राजो घर-घोषस औदुम्बरिस' अंकित है। वृक्ष तथा त्रिशूल के चिह्न राजा के नाम के नीचे उकेरे *गए हैं जो तांबे की मुद्राओं के साथ साम्य स्थापित करते हैं। कुछ विद्वानों* का विचार है कि कतिपय मुद्राओं पर विश्वात्रि देवता की आकृति उन्हें विश्वामित्र शैली में स्थापित करने का प्रमाण है।[2] इन मुद्राओं से विश्वामित्र का औदुम्बरों का पूर्वज पुरुष अथवा आराध्य देव होना निश्चित होता है। इस बात के संकेत मिलते हैं कि घरघोष महादेव का उपासक था और महादेव औदुम्बर जाति के उपास्य देव थे।

एक दूसरे प्रकार की चाँदी की मुद्रा भी उपलब्ध हुई है जो महादेवमुद्रा के आकार-प्रकार की है। इस मुद्रा पर हाथी तथा त्रिशूल भी अंकित दिखाई देता है तथा इस पर ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों में 'विजय रानो वेमकिस रुद्रवर्मस' लिखा है जो राजा की प्रशस्ति प्रतीत होता है।

इस संबंध में इस उक्ति का अर्थ 'विजय रानो वेमकिस रुद्रवर्मस' 'विजयी रुद्रवर्मन' प्रतीत होता है परंतु 'वेमकिस' शब्द किस अर्थ का सूचक है, स्पष्ट नहीं होता। सुधाकर चट्टोपाध्याय[3] का मत है कि यह राजा रुद्रवर्मन के वंश का

1. Sastri, K. A. Nilkanta—Comprehensive History of India Bombay, 1957, Vol. II, p. 109
2. वासुदेव उपाध्याय—भारतीय सिक्के : भारती भण्डार, प्रयाग, सं॰ 2005, पृ॰ 85
3. Chattopadyhaya, Sudhakar—Early History of Northern India, Col. 1958, p. 43

नाम हो सकता है। परंतु इस प्रकार का अर्थ लगाना प्रमाणों के अभाव में मानने में अनेक कठिनाइयां हैं। तीसरे प्रकार की तांबे की मुद्राओं में घेरे में वृक्ष, हाथी, त्रिशूल आदि के चिह्न अंकित हैं तथा खरोष्ठी व ब्राह्मी लिपियों में राजाओं के नाम भी उकेरे गए हैं। इन नामों के साथ 'मित्र' शब्द लगा है और प्रमुख नाम अजमितस, महीमित्र, भानुमित्र तथा महाभूतिमित्र हैं।

सुधाकर चट्टोपाध्याय का मत है कि होशियारपुर से प्राप्त इन मुद्राओं से प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में औदुम्बरों के नये वंश के राजाओं ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया और अपनी मुद्राएं प्रचलित कीं। पूर्व-वर्णित चार राजाओं—शिवदास, रुद्रदास, महादेव, घरघोष के अतिरिक्त औदुम्बरों की मुद्राओं के आधार पर रुद्रवर्मा, आर्यमित्र, महिमित्र, भानुमित्र, महाभूतिमित्र आदि प्रसिद्ध राजा हुए हैं।[1]

एक मुद्रा पर विश्वामित्र का उल्लेख उन्हें इसी वंश से संबद्ध वीर पुरुष सिद्ध करता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि औदुम्बरों की चाँदी तथा तांबे की चौकोर मुद्राओं पर मंदिर की आकृति को कुछ विद्वान पिरामिड, अन्य स्तूप तथा कतिपय अन्य औदुम्बरों के सभाकक्ष मानते हैं। इन मुद्राओं पर त्रिशूल, ध्वज तथा परशु के चिह्न औदुम्बरों की धार्मिक मान्यताओं की पुष्टि करते हैं। मुद्राओं पर अंकित ये मंदिर तथा त्रिशूल आदि निश्चित रूप से शैव धर्म की ओर संकेत करते हैं। बी० एस० सोहनी का मत है कि यह आकृति शैली विशेष का बोध कराती है और यह चित्र पहाड़ी शैली के मंदिर का ही प्रतीक है।

औदुम्बरों के संबंध में यह भी अनुमान है कि वे पर्याप्त समृद्ध थे तथा भेड़-बकरी पालन उनका मुख्य धंधा था। उनके देश में ऊन पर्याप्त मात्रा में होती थी और उनका राज्य गंगा के मैदान से मध्य एशिया को जाने वाले व्यापार-मार्ग पर था। उनके क्षेत्र की ऊन बहुत उत्तम प्रकार की मानी जाती थी। बौद्ध-ग्रंथ विनयपिट्टक में भी उनकी समृद्धि का संकेत है।[2]

औदुम्बरों के संबंध में इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि वे मुख्यतया शिवभक्त थे तथा उनके राजाओं के नामों के साथ आरंभ में शिव के किसी नाम का संबंध रहता था। उनके राजाओं के नामों को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि शिवदास, रुद्रदास, महादेव, घरघोष चारों ही नाम शिव के साथ संबद्ध हैं। रुद्रवर्मा अथवा रुद्रवर्मन भी 'रुद्र' के ही नाम से जुड़ा है परंतु संभवतः अन्य जातियों के आक्रमणों ने 'वर्मा' शब्द जोड़ने के लिए राजा को बाध्य किया होगा

1 मियां गोवर्धन सिंह—हिमाचल प्रदेश का इतिहास (अप्रकाशित)

2. M. K. Sharan—Tribal Coins : A Study, Delhi, 1972, p. 260, 269

ताकि वह क्षत्रिय वर्ग के साथ अपना संबंध स्थापित कर सके। बाद के राजा आर्यमित्र, महिमित्र, भानुमित्र, महाभूतिमित्र, इस बात का संकेत देते हैं कि शैव प्रभाव में कमी आने के कारण तथा संभवतः बौद्ध-धर्म अंगीकार करने के कारण नामों में परिवर्तन की पद्धति प्रचलित हुई होगी।

जिस प्रकार बौद्ध-धर्म में आर्यमित्र, संघमित्र आदि भिक्षुओं के नाम समादृत हैं, उसी प्रकार राजाओं ने अपने नाम के साथ सामान्य लोगों की श्रेणी में आने के लिए 'मित्र' शब्द जोड़ना आरंभ किया होगा। 'गद्दी' जनजाति के लोग शैव हैं। वे भेड़-बकरियां पालते हैं। मणिमहेश उनका पवित्र तीर्थ स्थल है। रुद्र वर्मा अथवा रुद्रवर्मन उनका प्रसिद्ध राजा हुआ है तथा अन्य कुछ राजा 'वर्मन' शब्द लगाकर अपने नाम को इतिहासप्रसिद्ध कर गए हैं और उन्होंने भरमौर (ब्रह्मपुर) को चंबा में अपनी राजधानी बनाया था। और यही नहीं, गद्दी लोग अपने आपको विश्वामित्र की संतान मानते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि वर्तमान 'बसोहली' वास्तव में प्राचीन विश्वामित्रालय है।

वसिष्ठ व विश्वामित्र

गद्दियों को 'मित्र' कहने का अर्थ उन्हें अपने राजाओं तथा बौद्ध-धर्म परंपराओं से जोड़ता है। विश्वामित्र तथा वसिष्ठ के वैमनस्य की कथा ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक में वर्णित है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह वैमनस्य दो व्यक्तियों का न होकर, दो वंशों, अर्थात् वसिष्ठवंश तथा विश्वामित्रवंश का था।

वसिष्ठवंश में अनेक प्रसिद्ध वसिष्ठ हुए हैं जिनमें देवराज वसिष्ठ, वसिष्ठ आपव, वसिष्ठ अथर्वनिधि, वसिष्ठ श्रेष्ठभाज, वसिष्ठ अथर्वनिधि (द्वितीय), वसिष्ठ [जो दशरथ का (प्रथम) समकालीन था तथा जिसने राम तथा लक्ष्मण आदि नाम रखे थे], वसिष्ठ मैत्रावरुण, वसिष्ठ शक्ति, वसिष्ठ सुवर्चस्, वसिष्ठ (जो अयोध्या के राजा मुचकुन्द का समकालीन था), वसिष्ठ (जो हस्तिनापुर के राजा हस्तिन का समकालीन था) तथा वसिष्ठ जो धर्मशास्त्रकार के रूप में जाना जाता है, आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से वसिष्ठ आपव का आश्रम हिमालय में बताया गया है। वायुपुराण (94/39-47) तथा हरिवंशपुराण (33/1884) में इसके आश्रम को हैहय राजा कार्तवीर्य अर्जुन द्वारा जलाए जाने का वर्णन प्राप्त है। आश्रम नष्ट किए जाने के कारण वसिष्ठ ने कार्तवीर्य अर्जुन को नष्ट होने का श्राप दिया था। वायु पुराण में इसे 'वारुणि' कहा गया है तथा मत्स्यपुराण में (145/90) यही 'ब्रह्मवादिन्' बताया गया है।

जिस वसिष्ठ का वैमनस्य विश्वामित्र से हुआ था वह वसिष्ठ देवराज के नाम से प्रसिद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित है कि रोहित हरिचंद्र का पुत्र वरुण देवता की कृपा से उत्पन्न हुआ था। मार्कण्डेय पुराण में उसे रोहिताश्च तथा रोहितस्य भी बताया गया है। कहा जाता है कि हरिश्चंद्र को यह पुत्र प्रिय होने के कारण, वरुण के साथ की गई प्रतिज्ञा—कि वह पुत्र प्राप्ति होने की दशा में उसे बलि चढ़ाएगा—पूरी होने से विलंब हुआ और उसके कारण हरिश्चंद्र के पेट में दर्द हुआ। रोहित ने अपने स्थान पर बलि दिए जाने के लिए 'शुनःशेप' को उसके पिता से खरीद लिया। उसे बलि के खंभे से भी बांध दिया गया। इतने में विश्वामित्र आए और उन्होंने शुनःशेप को देव-प्रार्थना करने के लिए कहा।

बाद में उन्होंने उसे छुड़वाकर अपना पुत्र बना लिया। शुनःशेप को उन्होंने गाधिकुल का उत्तराधिकारी भी बताया। परंतु यह घटना वसिष्ठ व विश्वामित्र के वैमनस्य का कारण रही हो, इस बात के प्रमाण नहीं हैं। जिस वसिष्ठ ऋषि का आश्रम विपाशा नदी के किनारे 'वसिष्ठ शिला' नामक स्थान पर गोपथ ब्राह्मण (1/2/8) में बताया गया है वह वसिष्ठ मैत्रावरुणि था। इसके अन्य आश्रम का उल्लेख भी प्राप्त है जिसे 'कृष्ण शिला' स्थान पर बताया गया है। यह वसिष्ठ ही उत्तर पांचाल के ऋग्वैदिक कालीन राजा पैजवन सुदास का पुरोहित तथा शक्ति ऋषि का पिता था।

ऋग्वेद के नवम् मंडल के सत्तानवें सूक्त की 19 से 21 तक की ऋचाएं शक्ति ऋषि द्वारा रचित बताई जाती हैं। इस सूक्त की 31 से 44 तक की ऋचाओं की रचना पराशर शाक्त्य (शक्ति पुत्र पराशर) द्वारा की गई मानी जाती हैं। वसिष्ठ ऋषि से पूर्व सुदास का पुरोहित विश्वामित्र था परंतु किसी कारणवश उसे पुरोहित पद से हाथ धोना पड़ा और वसिष्ठ ने उसका स्थान ले लिया जिससे विश्वामित्र सुदास के शत्रुपक्ष में सम्मिलित हो गया और दाशराज्ञ युद्ध में उसने सुदास के शत्रुओं का साथ दिया। ऋग्वेद (3/53/21-24) में वसिष्ठ विरोधी जो मंत्र उपलब्ध हैं उन्हें शक्ति ऋषि के विरुद्ध ही रचा गया माना जाता है। तैतिरीय संहिता (7/4/7/1) के अंतर्गत विश्वामित्र द्वारा शक्ति की हत्या का षड्यंत्र सुदास के सेवकों के माध्यम से बनाया गया था।

यह भी कहा जाता है कि विश्वामित्र बाद में एक बार पुनः सुदास के पास पुरोहित बना था परंतु वसिष्ठ ने उसे फिर हटवा दिया। वसिष्ठ ने तृत्सु गोत्र को स्वीकार किया था। इस वंश के लोग सिर पर दाहिनी ओर शिखा रखते थे।[1] इस द्वारा रचा गया ऋग्वैदिक सूक्त 'राक्षोघ्न' (7/104) अपने शत्रुओं के लिए गाली के रूप में लिखा बताया जाता है और अनुमान है कि इसे विश्वामित्र के लिए लिखा गया होगा। वृहद्देवता (6/28-34) से भी इस बात की पुष्टि होती है।

विश्वामित्र द्वारा वसिष्ठ के सौ पुत्रों को राक्षसों से मरवाए जाने का उल्लेख महाभारत के वन पर्व (130/8-9) में भी है। बाद में वसिष्ठ द्वारा आत्महत्या का प्रयास करने पर व्यास नदी ने उसके पाश खोल दिए थे, तभी से उसका नाम 'विपाशा' पड़ा, ऐसी भी मान्यता है। विश्वामित्र कान्य-कुब्ज देश के कुशिक वंश में उत्पन्न हुआ तथा गाथिन् (गाधि) राजा का पुत्र था। इसके दादा का नाम इषीरथ था। विश्वामित्र की बहिन सत्यवती का विवाह ऋचीक भार्गव ऋषि से हुआ था। इसी ऋषि का जमदग्नि पुत्र तथा परशुराम जामदग्न्य पौत्र

1. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्र कोश—म०म० सिद्धेश्वर शास्त्री, चित्राव, पृ० 808-810

था । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वामित्र परशुराम का प्राय: समकालीन तथा नाना था । अपने क्षत्रिय वंश को छोड़कर ब्राह्मण बनने की लालसा में इसने सरस्वती नदी के किनारे 'रुषंगु तीर्थ' पर तपस्या की थी । वसिष्ठ के साथ इसके वैमनस्य का कारण नन्दिनी गाय भी मानी जाती है । राजा के रूप में जब विश्वामित्र एक बार वसिष्ठ का अतिथि बना तो उसने नन्दिनी गाय के चमत्कारों को देखकर वसिष्ठ से गाय उसे देने का आग्रह किया और उसके इनकार करने पर उसे बलपूर्वक ले जाने का यत्न किया जिसमें वह असफल रहा । बाद में उसने अनुभव किया कि क्षात्र बल ब्रह्मबल से महान् नहीं है अत: उसने भी ब्रह्मर्षि बनने का प्रण करके राजपाट को तिलांजलि दे दी ।

विश्वामित्र का आश्रम कुरुक्षेत्र के समीप स्थाणुतीर्थ के सम्मुख 'रुषंगु-आश्रम' के नाम से प्रसिद्ध रहा है । उत्तर विहार के 'ताटका-वन' में भी इसका आश्रम माना जाता है । इस द्वारा रचित 'वसिष्ठ-द्वेषिण्य:' ऋचाओं का पाठ अभी तक भी वसिष्ठ गोत्र के लोग नहीं करते । शक्ति के वध की कथा के अंतर्गत कहा जाता है कि शक्ति ने राजा सुदास के यज्ञ के समय इसे शास्त्रार्थ में हराया था तथा विश्वामित्र ने जमदग्नि से 'ससर्परी विद्या' ग्रहण करके बाद में शक्ति को परास्त किया था । सुदास के सेवकों द्वारा हत्या करवाने के लिए इसने बाद में षड्यंत्र रचा था । विश्वामित्र का संबंध हिमाचल प्रदेश की संस्कृति से भी रहा है और प्रतीत होता है कि इसका कोई आश्रम कांगड़ा जनपद के अंतर्गत किसी स्थान में रहा होगा ।

विश्वामित्र शब्द का अर्थ 'विश्व का मित्र' होता है जिसका भाषा की शुद्धता की दृष्टि से 'विश्वामित्र' स्वरूप होना चाहिए परंतु म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव के अनुसार पाणिनिसूत्र (6/3/130) में वर्णित है कि 'मित्र' शब्द से पहले जब 'विश्व' शब्द प्रयुक्त हो और 'मित्र' का अर्थ 'ऋषि' होता हो तो शुद्ध रूप 'विश्वामित्र' होगा । प्रश्न यह है कि कान्यकुब्ज देश का अमावसु वंश जिसमें गाथिन् (गाधि) राज्य करता था, किस स्थान पर रहता था तथा विश्वामित्र जिसका जन्म नाम विश्वरथ था तथा जिसे ब्राह्मणत्व की उपाधि प्राप्त होने पर 'विश्वामित्र' नाम प्राप्त हुआ था, उत्तर पांचाल के राजा सुदास का पुरोहित कब बना होगा ।

ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन परंपरा में राजा का पुरोहित होने के लिए ऋचास्रष्टा होना आवश्यक गुण माना जाता होगा और इसी कारण प्रत्येक द्रष्टा ऋषि पुरोहित बनने की आकांक्षा रखता होगा । शतपथ ब्राह्मण में वसिष्ठ द्वारा यह उक्ति कि यज्ञ कर्ता पुरोहित को 'ब्रह्मन् के रूप में कार्य करना चाहिए' इस बात की पुष्टि करती है कि उस समय में मंत्रद्रष्टा ऋषि जो साक्षात् 'ब्रह्म' माना जाता था, पुरोहित बनने का अधिकारी होता था ।

वायु पुराण (91/92-93) के अनुसार विश्वामित्र ने एक अन्य स्थान 'सागरानूप प्रदेश' में भी तपस्या की थी तथा ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाने के बाद उसने अपना पुत्र तथा पत्नी कोसल देश में एक आश्रम में छोड़कर सागरानूप स्थान पर तपस्या के लिए प्रस्थान किया था। विश्वामित्र के पुत्र का नाम 'गालव' इसीलिए पड़ा बताया जाता है कि उसकी अनुपस्थिति में कोसल देश में इतना अधिक, अकाल पड़ा कि उनकी पत्नी को अपने पुत्र को गले में रस्सी बांधकर बेचने के लिए निकलने पर बाध्य होना पड़ा। यह मान्यता है कि उस समय कोसल देश के त्रैय्यारुण राजा के पुत्र सत्यव्रत ने विश्वामित्र के परिवार के सदस्यों की अपूर्व सहायता की जिसके परिणामस्वरूप विश्वामित्र ने तपस्या करके बारह वर्ष के पश्चात् घर लौटकर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के फलस्वरूप उसे अयोध्या की राजगद्दी पर बिठाया तथा वसिष्ठ को पराजित करके स्वयं उसके पुरोहित बने। यह सत्यव्रत ही बाद में 'त्रिशंकु' नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा इसी ने जीवित रूप में स्वर्ग जाने की इच्छा व्यक्त की जिसे विश्वामित्र ने पूरा किया। यह 'त्रिशंकु' इक्ष्वाकु-वंश का राजा था।

ऋग्वेद के तीसरे मंडल के तेतीसवें सूक्त में विश्वामित्र द्वारा विपाश तथा शुतुद्री (व्यास तथा सतलुज) नदियों के संगम पर मार्ग प्रशस्त करने हेतु जो प्रार्थना की गई है उसके संबंध में विद्वानों का मत है कि यह उसके द्वारा पैजवन सुदास द्वारा पंजाब के संवरण राजा पर आक्रमण के समय की घटना रही होगी। उस समय विश्वामित्र सुदास का पुरोहित था। ऋग्वेद के तीसरे मंडल में विश्वामित्र द्वारा रचित कुछ ऐसी ऋचाएं उपलब्ध हैं जिनमें उन्होंने अपने शत्रुओं की हँसी उड़ाई है और अपने पराक्रम की याद दिलाई है।

इन बातों से स्पष्ट होता है कि विश्वामित्र वंश में अनेक ऋषि हुए हैं और वे वैदिक काल से पौराणिक काल तक रहे हैं। ब्रह्मांड पुराण में 'कौशिक' नाम के ब्रह्मराक्षस समूह को जो 'रात्रिराक्षस' नाम के चार समूहों में से एक माना जाता है, विश्वामित्र कहा जाता है। इसके अतिरिक्त विष्णु पुराण में फाल्गुन मास में सूर्य के साथ घूमने वाले ऋषि को 'विश्वामित्र' संज्ञा दी गई है। विश्वामित्र वंश से औदुम्बरों तथा गद्दियों का संबंध जोड़ना उन्हें सुदास के पुरोहित के समीप लाता है क्योंकि सुदास की राजधानी उसी क्षेत्र में थी।

ग्राम-देवता

हिमाचल प्रदेश देव-भूमि है। देवी-देवताओं में पूर्ण विश्वास ही इस क्षेत्र की संस्कृति की रीढ़ है। प्रदेश में लगभग अठारह हजार ग्राम हैं और उनमें से अधिकांश में देव मंदिर विद्यमान हैं। एक अनुमान के अनुसार इस प्रदेश में शिव-मंदिरों की संख्या सर्वाधिक है। उसके पश्चात् दुर्गा मंदिरों का स्थान आता है। भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश ने प्रदेश के मंदिरों का सर्वेक्षण किया है और लगभग चार हजार मंदिरों की एक सूची पुस्तक रूप में प्रकाशित की है। भगवान् शिव के 620, दुर्गा के 546, वैष्णव देवताओं के भिन्न-भिन्न रूपों यथा—नारायण, कृष्ण तथा राम-संबंधी 510, ठाकुरद्वारे 349, नाग, गूगा व सिद्धस्थान 1189 तथा शेष ऋषि देवताओं व अन्य महापुरुषों से संबंधित पूजा स्थल हैं। यह सूची तथा गणना अभी तक अनंतिम है क्योंकि अनेक गांवों के नाम इसमें सम्मिलित नहीं हैं तथा इसमें प्रायः गांव के प्रधान देवी-देवताओं को ही सम्मिलित किया गया है। इस सूची को पूर्ण तथा व्यापक बनाने का कार्य आरंभ हो गया है। मंदिरों की गणना का कार्य पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और किसी क्षेत्र के धार्मिक मापदंडों का आधार इसी प्रकार से निश्चित किया जा सकता है। यदि हमारे देश के प्रत्येक प्रदेश के पूजा-स्थलों का विवरण उपलब्ध हो जाए तो धार्मिक इतिहास के संबंध में अनेक मूल्यवान तथ्य प्रकट होंगे।

हिमाचल प्रदेश की लोक-संस्कृति मंदिरों के इर्द-गिर्द घूमती है। ग्राम-देवता ग्रामों के संपूर्ण क्रिया-कलापों के अधिष्ठाता होते हैं। शिवालिक क्षेत्र में ग्राम-देवताओं की पालकियां बनाने का प्रचलन नहीं है परंतु श्रद्धालु लोग मंदिरों में जाकर पूजाअर्चना करते हैं तथा इस कार्य में पुजारी उनकी सहायता करते हैं। प्रदेश के भीतरी क्षेत्रों यथा शिमला, सिरमौर, कुल्लू, किन्नौर, लाहुल स्पिति तथा चंबा के कुछ भागों में ग्राम-देवता के लिए लकड़ी की पालकी बनाई जाती है जिसे सोने व चांदी की मूर्तियों से सजाया है। जटाएं व रंगीन-आकर्षक कपड़े ग्राम देवता को आकर्षक बनाते है। ग्राम देवताओं की मूर्तियां प्रायः मूंछोंवाली बनाई जाती हैं तथा देवियों की मूर्तियों में आभूषण पहनाए जाते हैं। ये देवी-देवता

अपने पुजारी तथा अन्य कृपा पात्रों के माध्यम से ही बात करते हैं। जब देवता की शक्ति पुजारी में उतरती अथवा प्रवेश करती है तो वह कांपना (खेलना) आरंभ करता है, इसे स्थानीय भाषा में 'हिंगरना' कहा जाता है। शक्ति के अवतरण पर वह जो भी कुछ बोलता है, वह देववाणी मानी जाती है। इस समय श्रद्धालुजन देवता के साथ वैसे ही बात करते हैं जैसे वे उसे सामान्य प्राणी मानकर कर रहे हों। हिंगरने अथवा खेलने वाला-कृपा पात्र प्रश्नकर्ता के प्रश्नों के उत्तर देवता की ओर से देता है और संतुष्ट होने पर उसके आदेश का पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। देवता का कृपा-पात्र हिंगरने की अवस्था में अनेक बार ऐसी भाषा में बात कर देता है जिसे वह सामान्य रूप में न जानता हो। अपनी बात का यकीन दिलाने के लिए वह कई बार सरसों के दाने अपनी गांठ से लेकर उपस्थित लोगों में बांटता है जिन्हें लोग गिनकर देखते हैं। यदि दानों की संख्या विषम हो तो बात सत्य मान ली जाती है, अन्यथा झूठ। परंतु सत्यता परखने के लिए यह परीक्षा हर समय आवश्यक नहीं है। कृपा-पात्र द्वारा बताई गई बात को परखने के लिए स्वयं देवता की शक्ति उसके मुख से प्रमाणों की उद्घोषणा भी अनेक बार करा देती है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि लोगों की आस्था के आधार जहां श्रद्धा तथा विश्वास कहे जा सकते हैं वहां वर्ष के विभिन्न उत्सवों के अवसरों पर ग्राम-देवता को अपनी शक्ति के माध्यम से अपनी उपस्थिति का आभास भी देना लाभदायक होता है, अन्यथा लोगों का विश्वास देव प्रथा के प्रति डगमगा सकता है।

देवताओं का मानवीकरण

ग्रामदेव-प्रथा हिमाचल प्रदेश की प्राचीनतम धार्मिक मान्यता है। प्राचीन काल में ग्राम देवता गांव की सारी जमीन तथा सम्पत्ति का मालिक होता था तथा ग्रामवासी उसके काश्तकार अथवा प्रजा होती थी। प्रजाजन जो भी अच्छा या बुरा कार्य करते थे, उसकी सूचना ग्राम-देवता को स्वयं हो जाती थी। तथा उसकी पालकी उठाए जाने पर वह कृपा-पात्र के माध्यम से अपनी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता व्यक्त करता था। किसी प्रथा के आरंभ करने अथवा बंद करने के लिए ग्राम-देवता की आज्ञा आवश्यक मानी जाती थी। इन ग्राम-देवताओं के मां-बाप, भाई-बहिन अथवा धर्म-भाई अन्य ग्रामों के देवता होते हैं तथा समय-समय पर ये एक-दूसरे से मिलने के लिए पालकियों में दूसरे गाँवों में जाते हैं। त्यौहार-उत्सवों में, जहां देवी-देवता पालकियों में सजाकर लाए जाते हैं, इनका एक-दूसरे से विधिवत मिलन कराए जाने की प्रथा है। सामान्य प्राणियों की तरह इनके शत्रु-देवता भी अनेक दशाओं में मिल जाते हैं ये जिनकी परछाई तक नहीं लेते और इनकी प्रजा के लोगों को इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है

कि भिन्न वर्ग के देवता से ये सामान्यतया दूर रहें।

अनेक ग्राम-देवता शक्ति का पुनः संचार करने के लिए अपने जन्मस्थानों पर भी वर्ष में एक बार अथवा दो-तीन वर्षों में एक बार पालकियों में जाते हैं और निश्चित अवधि तक वहां ठहरकर शक्ति संपन्न होकर अपने गांव लौटते हैं। इन देवी-देवताओं में अनेक के विवाह उनकी पूजा द्वारा पूर्वकाल में दूसरे ग्राम-देवताओं से किए गए हैं और उनके संबंध में कथाएं प्रचलित हैं। कुछ क्षेत्रों के देवता सर्दियों में इंद्रपुरी जाते हैं और अपनी प्रजा के लिए वर्ष भर के लिए सुख-संपत्ति लाते हैं। इंद्रपुरी जाने का समय प्रायः माघ मास है।

प्रदेश की जनसाधारणओं के अनुसार माघ मास पृथ्वी की उत्पत्ति का महीना है और इस मास में देवता स्वर्गपुरी में अधिवेशन में भाग लेते हैं। इन दिनों पृथ्वी पर राक्षसों का राज्य होता है। अनेक गांवों में यह प्रथा है कि स्वर्गपुरी जाने का दिन देवता का कृपा-पात्र (गूर अथवा ग्रववा) निर्धारित करता है तथा उस दिन देवता की पालकी उछालकर उसे विधिपूर्वक विदाई दी जाती है। अन्य कई गांवों में विदाई के दिन किसी प्रकार के उत्सव का आयोजन नहीं किया जाता परंतु दोनों ही दशाओं में पालकी को खोल दिया जाता है तथा देवता के आभूषण और कपड़े सुरक्षित रख दिए जाते हैं। निश्चित दिन देवता के आगमन की प्रतीक्षा रहती है और गांववाले उत्सव का आयोजन करते हैं, जिसमें कहीं कई देवता के वस्त्रों को फैलाकर पता लगाया जाता है कि देवता अगले वर्ष के लिए किस प्रकार का समय—सुख-दुःख लोगों के लिए लाया है। यदि कपड़ों में अनाज के दाने मिलें तो अनाज की बहुलता, यदि कोयला मिले तो मृत्यु की अधिकता, यदि सोने-चांदी के सिक्कों की प्राप्ति हो तो संपन्नता की सूचना मानी जाती है। जिन गांवों में देव-वस्त्रों को देखने की प्रथा नहीं है, वहां ग्रोक्च अथवा कृपा पात्र देवता की शक्ति के अवतरण के माध्यम से भविष्यत् काल की सूचना देता है। देवताओं के स्वर्गारोहण की प्रथा का आधार क्या है, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना संभव नहीं है क्योंकि यह विश्वास प्रागैतिहासिक प्रतीत होता है।

देवताओं की विदाई के अनेक गीत प्रचलित हैं और उनमें स्वर्गलोक से अपनी प्रजा की रक्षा की प्रार्थना तथा सुख-संपत्ति लाने का आग्रह वर्णित मिलता है। जब देवता स्वर्ग गए होते हैं तो गांव में किसी प्रकार का उत्सव आयोजित नहीं किया जाता। यही नहीं ,बल्कि आदिम विश्वासों वाले गांवों के लोग गांव के बाहर चबूतरों पर भयानक आकृतियां बनाकर रख देते हैं ताकि भूत-प्रेतों को गांवों में आने में संकोच हो। इस अवधि में विवाह-उत्सव, हल चलाना, वाद्य-यन्त्र बजाना तथा किसी अन्य प्रकार का आयोजन वर्जित होता है। प्रचलित देव-विश्वासों के आधार पर कहा जा सकता है कि देवता को जन-प्रतिनिधि की

भांति बजट-अधिवेशन में भाग लेने के लिए भेजा जाता है।

देवताओं का मानवीकरण इस क्षेत्र की संस्कृति की अद्‌भुत देन है। लोग देवताओं को अपने गांव का प्राणी मानकर व्यवहार करते हैं तथा अनेक बार उसके साथ शर्त भी लगा लेते हैं। उपरिक्षेत्रों के अनेक गांवों में देरथ को मंदिर से निकालकर वर्षा अथवा बर्फ गिरने तक बाहर रखने की प्रथा भी है। यह इसलिए किया जाता है कि देवता को लोगों की कठिनाई का आभास हो सके। ग्राम-देवता से ही विवाह-संबंध के विषय में राय ली जाती है तथा अनेक गांवों में अब भी यह प्रथा है कि विवाह-उत्सव पर देवता को उसका भाग भेंट-पूजा के रूप में अर्पित किया जाता है। मानवीकरण की इस प्रथा ने देवता और मनुष्य का घनिष्ठ संबंध स्थापित कर दिया है। यही कारण है कि किसी प्रचलित प्रथा के बंद किए जाने पर देवता की अनिच्छा होने की दशा में उसे अनेक गांवों में फिर आरंभ कर दिया जाता है। देव-विश्वास के कारण अनेक प्राचीन प्रथाएं बंद होने से बच गई हैं और मंदिरों में दुर्लभ वस्तुएं सुरक्षित हैं। जिन गांवों में आधुनिकता के नाम पर ऐसी मान्यताओं में कमी आई है वहां सामूहिकता की भावना का ह्रास हुआ है तथा चोरी आदि की घटनाएं बढ़ी हैं।

देव-मंदिरों का प्रबंध

देव-मंदिरों का प्रबंध सरकार द्वारा नहीं किया जाता और न ही कोई सरकारी प्रतिनिधि आय-व्यय का हिसाब रखने के लिए वहां नियुक्त रहता है। ग्राम-मंदिर कमेटी ही मंदिर की व्यवस्था करती है। प्रधान कारदार, जिसे कई स्थानों पर 'मोहतमिम' कहा जाता है, देव-मंदिर की संपत्ति आदि का उत्तरदायी प्रतिनिधि होता है। मोहतमिम के नाम पर जमीन का इंद्राज रहता है और वह देवता की चल तथा अचल संपत्ति की निगरानी रखता है। कुछ गांवों में मोहतमिम का पद पैतृक होता है परंतु अन्य अनेक में यह व्यवस्था देवता की इच्छा पर निर्भर करती है।

कायथ देवता की संपत्ति के लिए कोषाध्यक्ष का कार्य करता है। गूर, ग्रावच अथवा माली देवता का विशेष कृपा पात्र होता है। देवता से बात करने का यही 'माध्यम' होता है अतः गांव में इसकी प्रतिष्ठा अन्य कारदारों से अधिक होती है। कई स्थानों पर यह पुजारी से भिन्न व्यक्ति होता है। देवता से गूर प्रायः तभी बात करता है जब उसके कहारों ने उसे पालकी में उठाया होता है परंतु शक्ति का आह्वान करके वह कहीं भी देवता की इच्छा लोगों तक पहुंचा सकता है। कुछ गांवों में गूर को बलि चढ़ाए गए बकरे की गर्दन (मण्डी) प्राप्त करने का अधिकार है।

मंदिर तथा देवता के प्रबंध के लिए एक अन्य व्यक्ति की नियुक्ति की प्रथा भी

कुछ क्षेत्रों में है। किन्नर क्षेत्र में इसे 'शूचारस' कहा जाता है। शूचारस देवता के कार्य के लिए लोगों को बुलाकर उन्हें कार्य बांट देता है ताकि व्यवस्था में किसी प्रकार की कमी न रहे। छोटे-बड़े देवताओं की पालकियां जब एक गांव से दूसरे गांव ले जाना वांछित हो तो घरों तथा जातियों के हिसाब सेव्यवस्था करना आवश्यक होता है। उस दशा में गांव में सभा आयोजित की जाती है जिसमें कारदार कार्य की बांट करते हैं। भंडारी तथा अन्य कारदारों के अतिरिक्त वाद्य-यंत्रक भी मंदिर-कमेटी के कारदार माने जाते हैं। प्रत्येक मंदिर में वाद्य-यंत्र बजाने वालों का उपस्थित रहना आवश्यक माना जाता है। बजंतरी सामान्यतया निम्न वर्ग से संबंधित होते हैं और मंदिर के प्रांगण में खड़े होकर विभिन्न धुनें बजाते हैं। देव-मंदिरों में प्रातः व सायं प्रार्थना करने की परंपरा संपूर्ण प्रदेशों में प्रचलित है। वादक उत्सवों के अवसरों पर नर्तकों के कार्यक्रम का नियंत्रण भी करते हैं। अनेक क्षेत्रों में वर्ष में एक बार लोक-धुनों का ग्राम देवता द्वारा निरीक्षण किया जाता है जिससे वादक अपने कार्य का अभ्यास करते रहते हैं। यही कारण है कि प्रदेश के अनेक गांवों में प्राचीन धुनों के पारखी तथा प्रस्तोता सुलभ हो जाते है। मुख्य रूप से यहां की संस्कृति में अठारह लोक-वाद्ययंत्र प्रसिद्ध हैं, इनमें से ढोल, नगाड़ा, करनाल, रणसिंघा, शहनाई, गुञ्जाल, दमामा, छैणे, खंजरी, इकतारा, हुड़क, बांसुरी आदि प्रसिद्ध हैं।

पुजारी इस कमेटी का महत्त्वपूर्ण सदस्य है और श्रद्धालुओं द्वारा चढ़ाई गई भेंट को प्राप्त करने का कार्य उसी का है। जहां छोटे तथा आयरहित मंदिर हैं वहां पुजारी की प्रधान कारदार के रूप में कार्य करता है और ग्रामवासी आवश्यकता पड़ने पर आयोजनों में उसकी सहायता करते हैं। जिन क्षेत्रों में देव-मंदिरों में ही देवी-देवताओं की पूजा का विधान है वहां पुजारी ही श्रद्धालुओं तथा देवताओं के बीच माध्यम का कार्य निभाता है। ऐसे मंदिरों की आय विशिष्ट परिवारों में बांटने की प्रथा है और इन परिवारों के लोग सप्ताह के विशेष दिनों में मंदिर-की आय पर अधिकार रखते हैं। मंदिरों की आय को नियन्त्रित करने के लिए हिमाचल प्रदेश सरकार कुछ पग उठाने पर विचार कर रही है। तब मंदिर कमेटियों की व्यवस्था का स्वरूप बदल जाएगा और मंदिरों की रक्षा सामाजिक हित की बात हो जाएगी।

ग्राम-देवताओं के प्रकार

यह प्रदेश शिव तथा शक्ति की भूमि है। शिव हिमालय की प्राचीन देव-जातियों में प्रमुख देवता माने जाते हैं। वे हिमालय में ही रहे तथा हिमालय की पुत्री पार्वती से उनके विवाह की अनेक कथाएं प्रसिद्ध हैं। शिव-मंदिरों में यहां लकड़ी, पत्थर व अष्टधातु के शिवलिंग मिलते हैं। पत्थर के शिवलिंगों में

भरमौर (चंबा) तथा साहों के शिवलिंग प्रसिद्ध हैं। साहों चंबा जनपद का एक गांव है जहां विशाल शिवलिंग और नंदी की नयनाभिराम मूर्तियां दर्शनीय हैं।

कहा जाता है कि प्राचीनकाल में उस गांव में एक महात्मा तपस्या करता था। वह ब्राह्ममूहूर्त में समीप के नाले में एक स्थान पर स्नान करता था। एक दिन उसने देखा कि उस स्थान के पत्थर गीले थे जिससे उसे भ्रम हुआ कि कोई व्यक्ति उससे पूर्व ही स्नान कर गया है। दूसरे दिन वह एक स्थान पर छिपकर बैठ गया और यह देखने लगा कि कौन वहां स्नान के लिए आता है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहां तीन बालक स्नान के लिए आए। वह चुपके से उठा और एक बालक को पकड़ने में सफल हो गया। उसके छूने से वह बालक एक शिवलिंग में परिणत हो गया। रात को वह साधु इसी चिंता में था कि वह उस शिवलिंग को कहां स्थापित करे। स्वप्न में उसे आदेश हुआ कि वह पास के गांव की अमुक बुढ़िया के पास जाए और उससे स्थान के संबंध में पूछे। बुढ़िया ने उसे बताया कि वह कुछ व्यक्तियों को शिवलिंग को उठाने के लिए भेजेगी। वह स्वयं भी वहां गई और शिवलिंग उसके स्पर्श करते ही इतना हलका हो गया कि उसे कुछ व्यक्तियों ने उठा लिया। साहो ग्राम में पहुंचाने पर वह भारी हो गया और उठाया नहीं जा सका। यह शिवलिंग प्रदेश के सबसे बड़े शिवलिंगों में से एक है।

भरमौर गद्दी जनजाति का निवास-क्षेत्र है। यह स्थान हिमालय प्रदेश के प्रथम राज्य ब्रह्मपुर की राजधानी थी। ब्रह्मपुर ईसापूर्व बसाया गया था। इस स्थान के समीप ही मणिमहेश की पवित्र चोटी है। मणिमहेश शिवजी का निवास स्थान माना जाता है। धनछो में शिवजी भस्मासुर के डर से छः मास तक एक झरने के नीचे छिपे थे, ऐसी किंवदंती है। मणिमहेश से कैलास के दर्शन होते हैं। किन्नौर में भी एक कैलास चोटी है जिसे 'किन्नर-कैलाश' कहा जाता है। भरमौर क्षेत्र में गद्दी जाति के लोग शिव को अपना प्रधान देवता मानते हैं। यहां के उत्सव जिन्हें 'जात्राएं' कहा जाता है, शिवजी के सम्मान में आयोजित किए जाते हैं। 'नवाला' गद्दियों का प्रसिद्ध त्यौहार है। इसमें शिवजी को बलि दी जाती है तथा नौ व्यक्ति मिलकर अनुष्ठान आयोजित करते हैं संभवतः इसीलिए इस पूजा-विधि को 'नवाला' कहा जाता है। गद्दी जाति के गीतों में शिवजी का वर्णन बड़े सुंदर ढंग से चित्रित रहता है,

जैसे—"शिव कैलाशों के राजा,
धौलीधारों के राजा,
शंकर संकट हरणा"
धुड़ू नचेया जटा ओ खलारी ओ।
नचे धुड़ूआ बजे तेरे बाजे ओ॥

गंगा गौरा पाणी जो गई ओ ।
गौरा पुछदी की लगदी तू मेरी ओ ।।
गंगा बोलदी सौकण तेरी ओ ।
गंगा गौरा सरोसर लड़ी ओ ।।
गौरा पेटा पीड़ कलाई ओ ।
धाराधारा री धूणी मंगाई ओ ।।
धुड़ू नचेया धूड़ रणकाई ओ ।
नचे धुड़ूआ बजे तेरे बाजे ओ ।
धुड़ू नचेया जटा ओ खलारी ओ ।।

पहले गीत के बोलों का अर्थ है कि शिवजी संकटों को हरने वाले हैं और श्वेत पर्वतों के राजा हैं तथा दूसरे गीत में शिवजी को धूड़ू अर्थात् 'धूल मलने वाला' कहा गया है और कहा गया है कि वह धूल मलने वाला शिवजी जटाओं को खोलकर नाचा । इस गीत में शिवजी का मानवीकरण 'धूड़ू' के रूप में किया गया है । प्रदेश के शिव-मंदिरों में से अनेक के संबंध में सुंदर लोक-कथाएं जुड़ी हुई हैं । कांगड़ा के वैजनाथ मंदिर के शिवलिंग के संबंध में कहा जाता है कि इसे रावण लंका ले जाना चाहता था और कैलास से अपने कंधे पर उठाकर लाया । शिव ने वरदान दिया था कि यदि वह मार्ग में कहीं भी किसी कारणवश उसे भूमि पर रखेगा तो शिवलिंग दोबारा नहीं उठाया जा सकेगा । बैजनाथ पहुंचने पर रावण को लघुशंका की इच्छा हुई उसने एक बूढ़े को थोड़ी देर के लिए शिवलिंग थामने को कहा परंतु भारी होने के कारण उसने उसे वहीं पटक दिया जिससे रावण उसे दोबारा नहीं उठा सका । प्रदेश में शिव महादेव, महेश्वर, महासू, महाकाल, भैरव, नाग, रुद्र आदि नामों से स्मरण किए जाते हैं । शिव तथा वैष्णव धर्म का अद्‌भुत समन्वय यहां देखने को मिलता है । उपरि क्षेत्रों में अनेक गांवों का प्रधान देवता शिव हैं परंतु उसका सहायक देवता नारायण है । विशेष रूप से किन्नौर में तो यह प्रथा ही है कि महेश्वर देवता के सहायक के रूप में नारायण की पालकी भी होती है तथा महेश्वर अनेक स्थितियों में नारायण को अपने स्थान पर कार्य हेतु भेज देता है । कुल्लू में बिजली महादेव तथा शिमला जिला में चुड़ेश्वर महादेव प्रसिद्ध तीर्थ स्थान हैं । मणिकर्ण में गर्म पानी के स्रोत हैं । कथा है कि वहां पार्वती के कान का आभूषण पानी में गिर गया था । बूढ़ा महामंगलेश्वर महादेव, लाहुल में त्रिलोकनाथ, किन्नौर में सुंगरा, भावा तथा चढ़गांव महेश्वर जो बाणासुर तथा हिडिम्बा की संतान माने जाते हैं ।

चंबा में त्रिलोचन तथा त्र्यम्बकेश्वर, सिरमौर में शिरगुल, बिजट राज, गणदेवता, महासू देवता, परशुराम, हमीरपुर में नर्वदेश्वर, गोसाईं महादेव,

बिलासपुर में खनमुखेश्वर महादेव, भोलेवंकर, मंडी में अर्द्धनारीश्वर, पंचवक्त्र महादेव, शिमला में महासू, कोटेश्वर महादेव, रुद्र देवता, सिप्पी बीजू देवता, माननेश्वर, जुनगा महेश्वर, खंडेश्वर महादेव, कांगड़ा में महादेव, गौरीशंकर महादेव, शंकर भोलेनाथ, गंग भैरव तथा अम्बकेश्वर आदि के प्रसिद्ध मंदिर हैं।

शिव पृथ्वी के सर्जक देवता हैं। यहां के जनविश्वासों के सूर्य, चाँद, तारों तथा मानव की सृष्टि उन्हीं ने ही की है। युकुंत अर्थात् हिम के राजा की दो लड़कियों गोरे तथा गंगे से शिवजी का विवाह हुआ था। शिवरात्रि को इस क्षेत्र में यह धूमधाम से मनाया जाता है तथा बकरों की बलि दी जाती है। मंडी में इस अवसर पर ग्राम-देवता अपने रथों में आते हैं। कुल्लू दशहरा के अवसर पर सैंकड़ों ग्राम-देवता पालकियों में कुल्लू के मैदान में आते हैं। प्रदेश के लोक-नृत्यों के भाव अंकित हैं।

देवी के विभिन्न रूप हिमाचल के संपूर्ण क्षेत्र में पूजे जाते हैं। चंबा-पांगी क्षेत्र के मिथल गांव में एक ही बैल से हल चलाने की प्रथा है। यहां की देवी मिथल के आदेश से इस प्रथा का पालन किया जाता है। महिषासुरमर्दिनी की मूर्तियां यहां प्रायः प्रत्येक देवी-मंदिर में मिल जाती हैं। देवी के इस रूप में दुष्ट-दलन रूप माना गया है और यह भी संभव है कि अति प्राचीन काल में महिषासुर का वध कहीं इसी क्षेत्र में हुआ हो जिससे यहां के जनमानस पर इस घटना की अमिट छाप पड़ गई हो।

ज्वालामुखी, चामुण्डा, नयनादेवी, हाटकोटी, बालासुंदरी, बगलामुखी, जाल्पा, हरीदेवी, काली, भीमाकाली, वज्रेश्वरी अथवा ब्रजेश्वरी, चिंतपुर्णी, अंबिका, रेणुका, भद्रकाली, श्यामाकाली, लक्षणादेवी, पार्वती, हिडिम्बा, तारा, चण्डिका, उषा, टारनादेवी, संतोषी, मनसादेवी शीलता आदि देवियां इस क्षेत्र में बहुत विख्यात हैं। इनमें से नयनादेवी, ज्वालाजी, चामुण्डा तथा वज्रेश्वरी देवियों के स्थानों पर प्रति वर्ष लाखों श्रद्धालु देश-विदेश से आते हैं इन देवियों का संबंध प्राचीन सिद्धपीठों और दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव के कुपित होने पर, सती को अपने कंधे पर उठाकर ताण्डव नृत्य करने की कथा से जोड़ा जाता है।

कहा जाता है कि सती के शरीर के विभिन्न अंग अनेक स्थानों पर गिरे थे जिनमें से जीभ ज्वालाजी में तथा आँखें नयनादेवी स्थानों पर गिरी थीं। कन्याओं का पूजन तथा नवरात्रों में यज्ञ-अनुष्ठान देवी-पूजा के ही कारण यहां सामान्य लोगों की जीवन-पद्धति का अंग बन गए हैं। सारा संसार देवी की शक्ति से चल रहा है, इस विश्वास के फलस्वरूप देवी की भेंट-पूजा, जगराता तथा दर्शन उत्तम माने जाते हैं।

प्रदेश में नारायण अथवा वैष्णव-देवताओं की पूजा का पर्याप्त प्रचलन है। ब्रह्मा के कुछ मंदिर भी इस क्षेत्र के कुल्लू जिला में विद्यमान हैं। खोखण गांव का

आदि ब्रह्म मंदिर पुरातात्विक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। विष्णु-मंदिरों में राधाकृष्ण, रामचंद्र तथा सीता ठाकुरद्वारे, लक्ष्मी नारायण मंदिर प्रसिद्ध हैं।

कुल्लू क्षेत्र के अठारह नाग तथा नारायण देव प्रसिद्ध हैं। किन्नौर में भी नारायण देवताओं के अनेक मंदिर हैं। लाहुल स्पिति, किन्नौर, कुल्लू तथा शिमला जिलों के कुछ भागों में विष्णु हरिजनों का देवता माना जाता है,और उसका गूर भी उसी जाति से प्रायः संबंधित रहता है परंतु उसकी मान्यता सभी जातियों में प्रचलित रहती हैं। त्रिलोकनाथ विष्णु का रूप भी माना जाता है। कुल्लू तथा चंबा में रघुनाथ राजदेवता माना जाता है। कुल्लू-दशहरा में इस क्षेत्र के सभी ग्राम-देवता रघुनाथ जी के दरबार में, उपस्थित होते हैं? विलासपुर में गोपालजी का प्रसिद्ध मंदिर अब गोविंदसागर झील के पानी में समा गया है। परंतु यहां अनेक ठाकुरद्वारे वैष्णव धर्म का प्रचलन सिद्ध करते हैं। इन मंदिरों में हलवा-कड़ाह चढ़ाने की प्रथा है। बलि के लिए लाए गए बकरों को पानी फेंककर बिजा-कंपा भेंट कर दिया जाता है तथा देवता के नाम पर पाला जाता है।

वैष्णव देवताओं के पश्चात् प्रदेश की धार्मिक संस्कृति में नागों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाम शैवधर्म के देवता हैं परंतु इनका अलग अस्तित्व होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि नाग-संस्कृति इस क्षेत्र की स्वतंत्र संस्कृति रही है। नाग पानी, फसल के देवता माने जाते हैं। सांप के लड़ जाने पर विष उतारने के लिए भी लोग नागदेवता के मंदिर में प्रार्थना के लिए जाते हैं। शिवालिक-क्षेत्र के कुछ नाग मंदिरों के संबंध में विश्वास किया जाता है कि सांप द्वारा काटे गए रोगी को कुछ समय के लिए मंदिर के प्रांगण में रखने पर विष उतर जाता है। कुल्लू के 18 नागों की उत्पत्ति की कथा रोचक है। कहा जाता है कि घोशाल गांव की एक स्त्री छत पर एक दिन अपने बाल सुखा रही थी कि कहीं से वासुकिनाग उड़ता हुआ उधर से गुजरा। वह उस स्त्री को अपने घर ले गया। एक वर्ष के पश्चात् जब उस स्त्री ने एक उत्सव के अवसर पर अपने घर लौटने की इच्छा व्यक्त की तो उसने उसे इस शर्त पर घर पहुंचाया कि वह अपने से उत्पन्न सांपों को हांडी में रखकर पालेगी और किसी को उनके संबंध में नहीं बताएगी। उसने वैसा ही किया परंतु एक दिन उसकी सास को शक हो गया और उसकी अनुपस्थिति में वह दूध का कटोरा तथा धूप लेकर हांडी का ढक्कन खोलने लगी। ढक्कन उठाते ही सांप बाहर लपके। डर के मारे उसके हाथ से धूपदानी गिर गई जिससे कुछ सांप झुलस गए तथा अन्य घायल हो गए। यही सांप बाद में कुल्लू के 18 गांवों के प्रधान देवता बने।

किन्नौर में भी नाग-देवताओं की इसी प्रकार की कथा है जिसके अनुसार तुड:के नाम की एक लड़की ने अपने पिता को उसके ससुराल के गांव में पानी की कमी होने की बात बताई। पिता ने उसे एक पिटारी देते हुए कहा कि वह

उसे अपने पशु बांधने के कमरे (खड्ड) में खोले। उसने मार्ग में जिज्ञासावश खोल दिया जिससे वहां सांप का एक बच्चा बाहर निकल गया और पानी का स्रोत फूट पड़ा। ऐसा उसने मार्ग में जहां भी किया, अब तक भी वहां पानी के स्रोत हैं। अपने घर पहुंचकर तुडःके ने पिटारी खड्ड में खोल दी। इससे सांप के शेष बच्चे वहीं रहे। अगले दिन वह कमरा पानी से भर गया। अब तुडःके को पानी लाने की आवश्यकता नहीं थी परंतु एक कुट्टन ने तुडःके को कहा कि घर में पानी रहेगा तो एक दिन उसका घर गिर जाएगा। तुडःके ने बताए हुए तरीके से सांपों को काट डाला। कालांतर में इन्हीं कटे हुए सांपों से कुछ नाग देवता बन गए और सांगला, सापनी तथा बूआ गांवों में अब तक पूजे जाते हैं।

रामपुर बुशहर रियासत का बसाहरू नाग, मंडी का महूनाग चंबा का बासुकिनाग, इंदूनाग, कोटखाई का गोलीनाग तथा कुल्लू का अठारहनाग प्रसिद्ध नाग देवता हैं। कुछ नाग देवी-मंदिरों के साथ भी निवास करते हैं इससे शिव, शक्ति व नाग-संस्कृति की त्रिवेणी का पता चलता है। शिवालिक क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि जिला शिमला, सिरमौर और कुल्लू में भी नागदेवता गूगा के पूजन की प्रथा है। रक्षाबंधन के त्योहार के बाद गूगा नवमी तक गूगा के श्रद्धालु डमरू तथा थाली बजाते हुए टोलियों में गूगा के गीत गाकर घर-घर जाकर लोगों को सुनाते हैं। इन्हें मुण्डलीक अथवा मंडली कहा जाता है। मंडली का राशिनिवास (डेरा) किसी श्रद्धालु के घर होता है जहां वे रात भर गूगा-गाथा सुनाते रहते हैं तथा गूगा देवता की सहायता से गांव की निःसंतान अथवा बीमार महिलाओं का उपचार उसकी शक्ति के आरोपण से किया जाता है।

गूगा की गाथा के अनुसार वह राजस्थान के राजा जेवर का लड़का था। जेवर की दो रानियां काछल तथा बाछल नाम की थीं। बाछल ने गुरु गोरखनाथ की तपस्या की परंतु वरप्राप्ति के दिन काछल छल से उसके कपड़े पहनकर उसके पास गई और पुत्र प्राप्ति का वर मांगा। जब बाछल उससे वर प्राप्त करने के उद्देश्य से उसके पास पहुंची तो उसे भूल का पता चला। उसने बाछल को एक फल दिया जिसे खाकर गूगा का जन्म हुआ। गूगा ने काछल के दो पुत्रों - अर्जुन तथा सुर्जण को युद्ध में हराया और उसके अनेक युद्ध गजनी में भी हुए। उसे सांपों को वश में करने तथा उनसे रक्षा करने का अद्भुत वरदान प्राप्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि गूगा एक ऐतिहासिक पुरुष है जिसे देवताओं की श्रेणी में सम्मिलित करने के उद्देश्य से कथानक में रहस्य का पुट दिया गया है। कुछ भी हो, गूगा के पूजा-स्थानों को 'गुगेहड़ी' कहा जाता है और वे सर्पविष उतारने के लिए पवित्र माने जाते हैं। गुगेहड़ी में गूगा को घुड़सवार दिखाया गया होता है और उसके साथ अन्य मूर्तियां भी बनाई गई होती हैं। निचले क्षेत्रों में दो-चार

गांवों के समूह में गांव से कुछ दूरी पर गुगेहड़ी का खुला मंदिर देखा जा सकता है।

हिमाचल प्रदेश में गंधर्व तथा यक्षों की पूजा का भी प्रचलन है। यक्ष (जाख) पशुधन का देवता माना जाता है। गाय-भैंस के दूध के लिए यक्ष की पूजा की जाती है। भूतों को भी कुछ स्थानों पर देवता माना जाता है। जिला शिमला में माई पुल, काउंती तथा टियाली स्थानों के भूत देवता अन्य देवताओं की भांति पूजे जाते हैं। और लोगों की भलाई के लिए प्रसिद्ध हैं।

इस प्रदेश में अनेक पौराणिक ऋषि देवताओं के रूप में विख्यात हैं। इनमें लोमश, वशिष्ठ, पराशर, जमदग्नि, परशुराम, अत्रि, भृगु, मार्कण्डेय, व्यास, विश्वामित्र, भरद्वाज, कपिल, दुरवासा, शृंगी, वत्स, नारद, कार्तिकेय, मनु, शुकदेव, आदि अनेक ऋषि ग्रामदेवताओं के रूप में पूजे जाते हैं। कतिपय राजा भी देवताओं की श्रेणी में आ गए हैं और उनके रथ भी बनाए गए हैं। पौराणिक पात्रों में पांडवों को देवताओं के रूप में यत्र-तत्र पूजे जाने की परंपरा है। असंभव दीखने वाले अवशेषों को पांडवों के साथ जोड़ा गया है तथा प्राचीन मंदिरों एवं किलों के अवशेषों को पांडवों के वनवास के दौरान उन द्वारा निर्मित किया हुआ बताया जाता है।

अर्की क्षेत्र में पांडव देवताओं का सर्वाधिक महत्त्व है। बाड़ी धार के उत्सव में तीन गांवों से पांडव देवताओं की पालकियां लाई जाती हैं। इनमें बुहिला गांव का देवता अर्जुन, डाबरी मण्ढेरना गांव का भीम तथा देवथल गांव के देवता नकुल तथा सहदेव माने जाते हैं। युधिष्ठिर का स्थान बाडी धार माना जाता है। कहा जाता है कि बाड़ा देव पांडवकालीन बर्बरिक है। बर्बरिक की कथा महाभारत में वर्णित है। यह महाभारत का एक ऐसा पात्र है जिसने पांडवों की विजय के लिए अपना बलिदान दिया था। श्रीकृष्ण ने उसे महाभारत का युद्ध दिखाने के लिए सब से ऊंचे स्थान पर स्थापित किया था। पांडवों से संबंधित अनेक अवदान इस क्षेत्र की लोक-संस्कृति का रोचक पद प्रस्तुत करते हैं।

हिमाचल के लोकनाट्यों में 'ठोडा' लोकनृत्य जिसमें शाठा (साठ-कौरव) तथा पाशा (पांच-पांडव) दो दल तीर कमान से युद्ध करते हैं। पांडवों से जुड़ा हुआ युद्ध-अभ्यास है। ऐसा प्रतीत होता है कि पांडवों का हिमालय के क्षेत्रों से घनिष्ठ संबंध रहा है। 'पंडमायण' अर्थात् 'पांडवों की रामायण' ऊपरी क्षेत्रों में गाए जाने का लोकप्रिय प्रचलन है। कुल्लू क्षेत्र में मनाली के स्थान पर हिडिम्बा का एक प्राचीन मंदिर है। यह वहीं हिडिम्बा है जिसका पांडवों के वनवास के दौरान भीम से विवाह हुआ था। इस मंदिर के समीप ही हिडिम्बा के पुत्र घटोकत्च का पूजा-स्थल भी है।

असुर देवता—देवप्रथा की पृष्ठभूमि में सामाजिक मनोविज्ञान है। शक्ति-

शाली अदृश्य आत्माओं को देवता मानकर पूजा जाने का अर्थ है कि उनकी कृपा श्रद्धालुओं पर बनी रहे। यह कृपा दुष्ट आत्माओं की भी हो तो वे भी देवता के रूप में पूजी जा सकती है। हिडिम्बा, बाणासुर, बलि, दानव, महिषासुर, शनिश्चर, भस्मासुर, तारकासुर आदि अनेक असुर देवता इस क्षेत्र में पूजे जाते हैं। किन्नर क्षेत्र के 18 देवी-देवता बाणासुर और हिडिम्बा की संतान माने जाते हैं। लोक-विश्वास के अनुसार कौरवों की संख्या साठ मानी जाती है तथा हिडिम्बा का विवाह बाणासुर से हुआ माना जाता है। हिडिम्बा के मंदिर चंबा, खजियार, महला, जाहलमा, मनाली, स्रियून, मंडी कपगैर जिला शिमला आदि स्थानों पर हैं। कुल्लू-दशहरा में सब देवताओं के आने पर यह देवी पालकी में लाई जाती है जिसका अर्थ प्राचीन काल में इसका सब से बड़ी देवी होना लिया जा सकता है। किन्नर-क्षेत्र में बाणासुर व हिडिम्बा की अनेक कथाएं प्रचलित हैं और उन्हें अन्य देवताओं से पहले पूजा जाता है। शनिश्चर या शोनशिरस रवछम गांव का देवता है तथा रिब्बा गांव का देवता कंसराज माना जाता है। भूंडा त्यौहार में हिरबणी (हिडिम्बा) की पूजा का विधान है। सहस्रबाहू सुन्नी का राजा माना जाता है तथा दानव नाम का कोई राक्षस दानोघाट से संबंधित है। यही नहीं सुन्नी के पास के एक गांव का देवता कुरगण है जिसे कौरव माना जाता है तथा दुर्योधन का अवतार कहा जाता है।

पर्वत-शिखरों के आसपास निवास करने वाले देवता 'साउणी' कहे जाते हैं। ये योगिनियां मानी जाती हैं। योगिनियों का गांवों में प्रवेश निषिद्ध है। यही कारण है कि इन्हें गांव में आने से रोकने के लिए कई स्थानों पर उत्सवों के अवसरों पर अश्लील आवाजें लगाना बुरा नहीं माना जाता। जिन क्षेत्रों में यह प्रथा प्रचलित है वहां विश्वास किया जाता है कि ऐसा व्यवहार करने से योगिनियां अपने निवास-स्थानों को लौट जाती हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में योगिनियों की संख्या 64 मानी गई है। लोक-परंपरा में भी यह संख्या 64 बताई जाती है परंतु इनके नाम खोज पाना आसान काम नहीं है। एक सूची के अनुसार इनके नाम ये हैं :

1. काली, 2. कराली, 3. ईश्वरी, 4. सिद्धयोगनी, 5. दिव्यजोगनी, 6. महायोगिनी, 7. वारुणी, 8. ब्राह्मणी, 9. अंबिका, 10. दुर्गा, 11. जया, 12. विजया, 13. धूमवती, 14. कामेश्वरी, 15. चामुंडा, 16. महाकाली, 17. चित्रणी, 18. उर्ध्वकेशी, 19. कपिला, 20. रोहिणी, 21. सुमंगला, 22. वाराही, 23. रक्ताक्षी, 24. वैनायकी, 25. यमघंटा, 26. वैश्वानरी, 27. भद्राणी, 28. व्याघ्रणी, 29. यक्षिणी, 30. प्रेतनाशा, 31. संखिनी, 32. चंडी, 33. पद्मिनी, 34. नाहरसिंधी, 35. चंद्रावती, 36, संखिनी, 37. सीतला, 3५. सरस्वती, 39. हरसिद्धि, 40. भैरवी, 41. मुण्डाधारिणी, 42. वीरभद्राक्षी, 43. ईशानी, 44. ललिता, 45. गौरी, 46. सूर्यपुत्री,

47. कंटकी, 48. लम्बोष्ठी, 49. प्रेतवाहिनी, 50. निशाचरी, 51. कपालिनी, 52. वनदेवी, 53. नारायणी, 54. भद्रावती, 55. अग्निहोत्री, 56. कात्यायनी, 57. ज्वालामुखी, 58. कामाक्षी, 59. भद्रकाली, 60. कालरात्रि, 61. शंकरी, 62. इन्द्राणी, 63. महाविद्या, 64. चक्रेश्वरी ।

लोकविश्वासों के अनुसार योगिनियां पर्वतशिखरों तथा नदी-नालों के आस-पास रहती हैं तथा प्रसन्न होने पर सहायक होती हैं। ये मांस की बलि लेती हैं और लाल रंग के कपड़े पहने हुए दिखाई देती हैं। योगिनियों की पूजा जादू और टोने के द्वारा ही संभव है। चरवाहे इन देवियों को मेमनों की बलि देते हैं ताकि उनकी भेड़ों की रक्षा हो सके। ये पर्वतशिखरों के आसपास की भूमि की रक्षक मानी जाती हैं। इनकी भांति ही 52 वीरों की पूजा भी लोकमानस में प्रचलित है। इन वीरों में 'पंजपीरो' अर्थात् पांडव भी अनेक स्थानों पर सम्मिलित माने जाते हैं परंतु सामान्यतया ये वीर पांडवों से भिन्न हैं। इनमें नारसिंह वीर सर्वोपरि माना जाता है। इसको सीटी बजाने वाला देवता भी कहा जाता है। इसके मुख्य स्थान बिलासपुर तथा अर्की माने जाते हैं। इसका निवासस्थान पीपल का पेड़ होता है और यह सफेद कपड़े तथा हलवा पसंद करता है। यह लोगों की भूत-प्रेतों से रक्षा करता है। कई बार जिन लोगों पर इसकी शक्ति आती है वे भविष्यवक्ता बन जाते हैं।

हिमाचल प्रदेश में उपर्युक्त देवी-देवताओं के अतिरिक्त अनेक स्थानीय देवता भी हैं जिनकी पूजा अपने-अपने गांवों में होती है। गृहदेवता घर के अंदर पूजे जाते हैं तथा बौद्धधर्म में अलग देवी-देवताओं की पूजा की परंपरा है। बौद्ध-धर्म किन्नौर, लाहुल स्पिति तथा चंबा के पांगी क्षेत्र में प्रचलित है। यह कहा जा सकता है कि हिमाचल प्रदेश देवभूमि है तथा यहां प्राचीनकाल के महापुरुष अब भी देवी-देवताओं के रूप में निवास करते हैं। देवताओं द्वारा समय-समय पर चमत्कार दिखाते रहने के कारण यहां के निवासियों का उनमें अडिग विश्वास बना हुआ है। प्राचीन परंपराओं की रक्षा के लिए इन देव-विश्वासों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

उपसंहार

किन्नर, गंधर्व तथा यक्ष प्राचीन जातियों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० पद्म-चंद्र कश्यप[1] की मान्यता है कि नाग तथा आर्यों के मध्य अनेक युद्ध हुए। इसका अर्थ यह है कि नाग जाति आर्यों से भिन्न थी। उनका यहां तक कहना है कि ब्राह्मणों के कुछ वर्ग भी अनार्य थे तथा वे इंद्र के शत्रु थे।[2] उन्होंने इस प्रकार की धारणा के लिए यद्यपि प्रमाण नहीं दिया है परंतु यह कहा जा सकता है कि पुराणों में इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे कुछ विद्वान ब्राह्मणों का सुरों तथा असुरों के पुरोहित होने का पता चलता है। असुरों के पुरोहित अनार्य ही हों, यह आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर यह मान्यता भी है कि हिरण्यकश्यपु बलि तथा बाणासुर असुरवंश अनार्य था और यही कारण है कि आर्य-ग्रंथों में इन ब्राह्मणों को असुर अथवा आर्यों के शत्रु माना गया है।

अथर्ववेद में नागों को गंधर्व, अप्सरा, देव, पुण्यजन तथा पितर वर्ग के साथ गिना गया है जिससे इस बात का पता चलता है कि वे अनार्य नहीं थे। नाग राज्य अनेक शताब्दियों तक इस देश के विभिन्न भागों में रहा।

यह जानना रुचिकर होगा कि रावण के पुत्र मेघनाद की पत्नी सुलोचना नागकन्या थी तथा रामचंद्र के पुत्र कुश की धर्मपत्नी भी नागवंश से थी। अर्जुन ने भी चित्रांगदा और उलूपी नागकन्याओं से विवाह किया था।[3]

हिमालय की प्राचीन जातियों में किरातों का स्थान भी महत्त्वपूर्ण रहा है। विद्वानों का मत है कि नाग, किरात तथा खश उसी मार्ग से भारत आए जिससे आर्यों ने प्रवेश किया था। इनमें से किरात सर्वप्रथम तथा नाग उनके बाद आए। खश सबसे पीछे आने वालों में थे। प्लीनी के अनुसार किरात तथा तंगण तौंस तथा शारदा नदियों के बीच रहते थे।

1. P. C. Kashyap—Surviving Harappaw Civilization, Abhiman Publications, 1984, pp. 54-55
2. Ibid, p. 55
3. Ibid., p. 60

महाभारत वनपर्व में उन्हें कुलिंद-राजा सुबाहु की प्रजा बताया गया है। राहुल किरात-किन्नरों को एक ही वर्ग के लोग मानते हैं। उनके अनुसार वर्तमान तिब्बती-बर्मी भाषाभाषी लोग यथा हिमालय के भोट, चंबा के लाहुले, कुल्लू के मलाणा निवासी, किन्नर, नेलंग के जाड, नेपाल के गुरुंग आदि सभी जातियां किरात-वंश से संबंधित हैं।

राहुल ने जिस वर्ग को किरातों से संबंधित माना है वास्तव में वह आग्नेय-परिवार की शाखा है। यदि किराती इनकी भाषा रही हो तो उसे अनार्य भाषा मानकर इनका मूल खोज पाना कठिन नहीं होगा परंतु शिवालिक के पहाड़ी भाषा-भाषी घिरथ भी कतिपय विद्वानों द्वारा 'किरात' व 'घिरथ' शब्दों में नाम-साम्य के कारण किरात वर्ग से संबंधित माने जाते हैं। डॉ० डी० डी० शर्मा अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक हिस्ट्री ऑफ् उत्तरखंड' (पृ० 21) में डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि अथर्ववेद के एक मंत्र (5/13/5) में 'कैरात' को असम्मानजनक शब्द के रूप में प्रयुक्त किया गया है। नागों के साथ किरातों के क्या संबंध रहे तथा किस प्रकार वासुकि, शेष, बेरीनाग, काली नाग, धौली-नाग, धूमिलनाग, फनीहरनाग, इंद्रनाग आदि देवताओं के रूप में पूजे जाने लगे, यह विचारणीय प्रश्न है।

हिमाचल में सराहन रामपुर बुशहर के समीप के गांव बंडा के नागदेवता को सरपारा में उत्पन्न हुए नागों से जोड़ा जाता है और बूढ़ी दीवाली के अवसर पर रावी तथा निरमण्ड गांवों में घास के बनाए गए रस्सों को भी 'बाहण्ड' कहा जाता है। कुछ लोगों का कथन है कि भण्डासुर राक्षस को बण्डा नाग ने मारा था, अतः उसी घटना की स्मृति में बूढ़ी दीवाली के अवसर पर बण्डा नाग के रथ को रावी गांव लाया जाता है।

किन्नरों के अनेक संदर्भ पुराणों में उपलब्ध हैं। उन्हें अर्द्धदेवयोनि में अंकित किया गया है। वे स्वर्गगायक, गीतमोदी, हरिणनर्तक, किंपुरुष तथा अश्वमुख भी बताए गए हैं। वे गंधर्वों, यक्षों, विद्याधरों आदि के साथ वर्णित हुए हैं जिससे यह संकेत मिलता है कि ये क्षेत्र एक-दूसरे के समीप स्थित थे। वर्तमान किन्नौर जिला जो तिब्बत की सीमा के साथ सटा हुआ है, हिमाचल प्रदेश के शिमला तथा लाहुल स्पिति जिलों के समीप है। इस भाग के लोगों को कनावरा, कनौरा आदि नामों से अभिहित किया जाता है जो इस बात का पर्याप्त संकेत है कि यह वर्ग प्राचीन किन्नर जाति से संबंधित रहा होगा।

नामसाम्य अतःसाक्ष्य का पुष्ट प्रमाण माना जाता है, फिर जब हम देखते हैं कि वर्तमान समय में भी कनावरे नृत्य तथा गायन में अतीव रुचि रखते हैं तथा उनके क्षेत्र में घोड़े पालने का प्रचलन है और उनके गांवों में प्रचलित 'होरिङ् फो' लोकनाट्य में एक व्यक्ति हरिण के-से सींग लगाकर अभिनय करता है, तो कनावरों

का किन्नर लोगों से संबंधित होना सिद्ध हो जाता है।

किन्नौर क्षेत्र में वर्तमान समय में तिब्बती-बर्मी भाषा का प्रचलन है जिसमें अनेक शब्द किसी प्राचीन भाषा तथा अन्य अनेक तिब्बती अथवा भोटी भाषा से संबंधित हैं। राहुल सांकृत्यायन ने किन्नर क्षेत्र की मूल भाषा को किराती बताया है। इस क्षेत्र की बोली में उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं के लिए शब्द नहीं हैं और उन्हें 'दायां' तथा 'बायां' कहते हैं। पूर्व की ओर मुख करके खड़े होने के पश्चात् दाई तथा बाई ओर का बोध दक्षिण तथा उत्तर दिशाओं के लिए स्वतः स्पष्ट है। इस क्षेत्र की बोली में चंद्रमा के लिए 'गोल' शब्द प्रचलित है तथा मास (महीने) के लिए 'गोलसङ्' अर्थात् 'महीने का उदय अथवा आरंभ' शब्द प्रयुक्त होता है जो इस बात का संकेत है कि किन्नर लोग अपने मास का आरंभ चंद्रमा से संबंधित मानते होंगे। इस क्षेत्र में बहुपति-प्रथा का प्रचलन है तथा इस भाषा में पुरुष के ससुराल के लिए *'दूरेस' तथा स्त्री के ससुराल के लिए 'परायो किम' अर्थात्* 'दूसरे का घर' शब्दों का प्रचलन किन्नरों में मातृसत्तात्मक परिवार-प्रथा के प्रचलन की पुष्टि करता है। वर्तमान समय में भी 'गोयने' (गृहिणी) ही अपने पतियों को अनेक गृहकार्य निर्दिष्ट करती है। सब भाइयों में वरिष्ठतम व्यक्ति गोरतेस (गृहस्वामी) भी गोयने की स्वीकृति लेकर ही गृह का संचालन करता है।

किन्नरों में तलाक की प्रथा अत्यंत सरल है। तलाक के लिए इस क्षेत्र में 'शिङ्ट्गट्ग' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसे 'लकड़ी तोड़ना' कहा जाता है। पति-पत्नी गांव के बड़े बूढ़ों के सम्मुख एक सूखी लकड़ी तोड़कर तलाक ले सकते हैं। किन्नरों में कन्या को बलपूर्वक भगाकर विवाह कर लेने की प्रथा भी है। इसे 'दारोश डबडब' कहा जाता है। नदी के लिए 'समुद्रङ्' गांव के लिए 'देशङ्', दूध के लिए 'खेरङ्' (क्षीरम्) शब्दों का प्रचलन तथा पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा आदि संख्यावाचक शब्दावली का स्थानीय बोली में अभाव होना और इस वर्ग की बोली में लिंग का अभाव होना आदि बातें किन्नर-परंपरा की विशिष्टता है।

यही नहीं, किन्नर (कनावरे) जिन 18 प्रधान देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, वे बाणासुर तथा हिडिम्बा की संतान माने जाते हैं। इस क्षेत्र में प्रचलित एक गीत में बताया जाता है कि बाणासुर 'गूगे चन्तरङ्' से इस क्षेत्र में आया तथा हिडिम्बा कुल्लू लाहुल से आई। गूगे चन्तरङ् पश्चिमी तिब्बत का क्षेत्र है और प्राचीन 'चपरङ्' नामक राज्य से संबद्ध रहा है। लाहुल में जाह्लमा तथा कुल्लू में हिडिम्बा के मंदिर हैं, यह सर्वविदित है। यह भी उल्लेख है कि हिडिम्बा का भाई हिडिम्ब अथवा तांडी (तांदी) लाहुल के तांदी क्षेत्र में राज्य करता था और पांडवों के बनवास काल में वह उन्हें यहीं मिला था।

हिडिम्बा ने लाहुल अथवा मनाली क्षेत्र में पांडवों से मुलाकात की तथा भीम से विवाह किया। यह बात रुचिकर है कि मलाणा के देवता जमलू का भाई राजा

गेपङ् अथवा घेपन लाहुल के एक गांव का ग्राम-देवता है और हिडिम्बा का छात्र हर समय इस ग्राम देवता के साथ रहता है। जनविश्वास है कि राजा गेपङ् तिब्बत से इस क्षेत्र में आया है तथा हिडिम्बा उसकी सहायिका देवी है।

किन्नौर में हिडिम्बा को हिरमा कहा जाता है। हिरमा का एक मंदिर कफौर गांव में है। इसके पति बाणासुर की आत्मा का निवास कफौर के समीप के ही एक गांव सुंगरा में ग्राम-देवता महेशुर के मंदिर के उपरि कक्ष में माना जाता है। बाणासुर का हिडिम्बा की अठारह संतानों में से सबसे बड़ी पुत्री चंडिका काल्पा के समीप कोठी गांव की देवी है। उसके तीन भाई महेशुर (महासुर ?) कहे जाते हैं तथा वे क्रमशः सुंगरा, चगांव तथा भाबा गांवों के देवता हैं।

चंडिका एक की बहिन उषा निचार की देवी है तथा उसी की बहिन चित्रलेखा तरंडा गांव की ग्रामदेवी है। लोकगीत में उषा के पति का नाम 'हौनू' बताया गया है। महाभारत में यही 'हौनू' अनिरुद्ध हो गया तथा उसकी बहिन 'चित्रलेखा' अथवा 'चित्ररेखा' उसकी मायावी सहेली चित्रित हुई। महाभारत में हिडिम्बा का विवाह बाणासुर से होने का संदर्भ कहीं अंकित नहीं है। वहां तो उसका विवाह भीम से हुआ बताया गया है तथा उसकी संतान घटोत्कच के जन्म के बाद हिडिम्बा ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भीम को छोड़ दिया, ऐसा संकेत है।

कुनिहार के समीप एक गुफा का नाम अब भी 'घटोची' है और इस नाम का कारण यह बताया गया है कि घटोत्कच का जन्म उस गुफा में हुआ था। किन्नर क्षेत्र के जनविश्वासों में घटोत्कच का नाम कहीं भी नहीं आता परंतु इतना अवश्य है कि बाणासुर की आत्मा को इस क्षेत्र में अपने बेटे-बेटियों के पास यदाकदा आने की बात मानी जाती है। चगांव गांव में जब तेज व ठंडी हवा चले तो लोग ग्रामदेवता महेशुर के पास जाकर उसके कृपापात्र 'गूर' से पूछते हैं कि देवता के पिता की आत्मा तो उसके पास नहीं आई है ? यदि 'गूर' (ग्रोक्च) देव-शक्ति के आह्वान के उपरांत हिलते हुए यह कहे कि आत्मा उस गांव में आई है तो लोग यह पता लगाने का यत्न करते हैं कि वह पूर्व की ओर से स्थित कोठी गांव में अपनी पुत्री चंडिका के पास जाएगी अथवा पश्चिम की ओर स्थित कटगांव (भाबा) महेश्वर के पास जाएगी। जैसा भी उत्तर मिले, तैयारी आरंभ कर दी जाती है और एक पिटारी में आटे का एक सांप बनाकर रखा जाता है तथा वाद्ययंत्रों सहित गांव वाले देवता के पिता की आत्मा को विदाई देने के लिए जुलूस के रूप में प्रस्थान करते हैं। कुछ दूरी पर आटे के सांप के पिटारे को दीपक जलाकर रख दिया जाता है और सब गांववासी पीछे देखे बिना वापिस लौट जाते हैं। भाबा गांव में आत्मा के आगमन पर उसका स्वागत करते हैं, विदाई पर नहीं। आगमन की तिथि आदि देवता महेश्वर का गूर बताता है।

बाणासुर की आत्मा को सांप के रूप में क्यों माना जाता है, इस संबंध में यद्यपि किसी ग्रामवासी को पता नहीं है परंतु बूढ़ी दीवाली के अवसर पर इस क्षेत्र के सांगला गांव में झाड़ियों के दो सांप बनाए जाने की प्रथा है। इन झाड़ियों के सांपों को कोली जाति के हरिजनों द्वारा बनाया जाता है तथा इन्हें 'बाणा' कहा जाता है। इसके बनाए जाने की कथा में बताया जाता है कि बहुत प्राचीन-काल में निरमंड से दो सांप किन्नौर की ओर बढ़े थे और उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया गया था जिससे वे किन्नर क्षेत्र में किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचा सके। बाणासुर के साथ इन सांपों के प्रतीक का कुछ संबंध है या नहीं, यह शोध का विषय है।

यहां केवल इतना संकेत पर्याप्त है कि किन्नर जाति का संबंध बाणासुर व हिडिम्बा से रहा है और वे इनके पूर्व पुरुष रहे होंगे तभी उनकी पूजा इस क्षेत्र में अब तक प्रचलित है। निरमंड में भूंडा उत्सव के अवसर पर देवी 'हिरबणी' का पूजन किया जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने 'किन्नर लोकसाहित्य व संस्कृति' पर इसी उद्देश्य से विस्तृत अध्ययन किया और इस सामग्री का प्रकाशन 'किन्नर-लोकसाहित्य' नामक पुस्तक में किया गया।

कालिदास ने अपने ग्रंथों - रघुवंश (4/78) तथा मेघदूत (60) में किन्नरों को हिमालय क्षेत्र की एक जाति बताया है। वायु पुराण के अनुसार शंकुकूट तथा वृषभ पर्वतों के बीच किन्नरों का निवास माना गया है। उनके राजा का नाम कपिञ्जल बताया गया है। राहुल सांकृत्यायन किन्नर तथा किरातों को एक ही वर्ग से संबंधित मानते हैं, इस संबंध में पहले लिखा जा चुका है। वे 'सू' शब्द को प्राचीन किन्नर-किराती बोली से संबंधित मानते हुए कहते हैं कि कुमाऊं, गढ़वाल तथा शिमला क्षेत्रों के कुछ देवताओं तथा गांवों के नामों के साथ जुड़े इस शब्द का प्राचीन संदर्भ किन्नर बोली में ढूंढा जा सकता है।

यह बात सही है कि वर्तमान किन्नौरी बोली में 'शू' शब्द का अर्थ ग्रामदेवता होता है परंतु यह निश्चित रूप से कह पाना संभव नहीं है कि यह शब्द किन्नरी-बोली का ही है या किराती से किन्नरी में लिया गया है, अथवा प्राचीन किन्नर ही किरात थे। यदि किन्नर ही किरात होते तो दोनों शब्दों का प्रयोग इकट्ठा किए जाने का औचित्य नहीं था।

प्राचीन भारतीय साहित्य में इन दोनों शब्दों के इकट्ठे प्रयोग से धारणा बनती है कि इन दोनों वर्गों के लोग कहीं समीप के क्षेत्रों में निवास करते थे। वैसे भी किरातों को कहीं भी दैवीगायक नहीं कहा गया है। किरात शिकारियों के रूप में ही वर्णित हुए हैं।

किरातार्जुनीय महाकाव्य में शिव जब किरात के रूप में अवतरित हुए तो वे व्याध थे। एटकिन्सन का यह कथन कि वर्तमान समय के कुनैतों के पूर्वज, यक्ष

या खश, कश्मीर के नाग, स्वात घाटी के विद्याधर तथा सिद्ध, गंधर्व, दानव तथा दैत्य और किन्नर पर्वतीय जनजातियां थीं, सही है[1] परंतु उनका कुमाऊं के समीप किसी स्थान पर किन्नर देश मानने का आग्रह सही नहीं है। प्राचीनकाल के किन्नर क्षेत्र की सही सीमाओं का अनुमान लगा पाना सुगम कार्य नहीं है परंतु किन्नौर का वर्तमान क्षेत्र किन्नरों की प्राचीन सामाजिक परंपराओं के संबंध में महत्त्वपूर्ण आधार सामग्री सुलभ कराने में सक्षम है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। किन्नरों में पितरों के नाम पर पर्वतशिखरों पर चबूतरे बनाने की प्रथा प्रचलित है। इन चबूतरों को शकरी, शाखार तथा कोटङ् कहा जाता है। गांवों के ऊपर स्थित पर्वतशिखरों पर इस प्रकार के चबूतरे अब भी बनाए जाते हैं तथा दकरेणी (दक्षिणायन) अथवा वीस भादों को इन स्थानों पर उत्सव आयोजित किए जाते हैं। चंबा के पांगी क्षेत्र में उत्तरायण (उतरैंण) तथा दक्षिणायन (दखणैंण) त्योहार अब भी प्रचलित हैं।

विशिष्ट अवसरों पर पर्वत शिखर दर्शन जिसे स्थानीय भाषा में 'रङ्-कोरङ् चिम' कहा जाता है, का आयोजन युवक-युवतियों द्वारा किया जाता है। मृत्यु के पश्चात् आत्माएं किन्नर-कैलाश के समीपस्थ बर्फीले पहाड़ जिसे 'रल्डङ्' कहा जाता है, पर निवास करती हैं तथा फूलों के उत्सव 'फुल्याच' के अवसर पर उन्हें वापिस बुलाने के लिए कुछ गांवों में विशिष्ट गायकों, जिन्हें 'गितकारेस' कहा जाता है, द्वारा गीत गाए जाते हैं। रल्डङ् संभवतः 'रोलङ्दङ्' अर्थात् 'आत्माओं का निवासस्थल' से बना शब्द है। किन्नर क्षेत्र में नाग तथा नारायण महेश्वरों (महासुरों) जो बाणासुर की संतान हैं, के अधीनस्थ अथवा स्तर में उनसे छोटे देवता हैं परंतु महेशुरों से उनका विरोध नहीं है यद्यपि लोकगीतों में नागदेवता की महेशुर से हुई लड़ाई के संदर्भ भी मिल जाते हैं। इस प्रकार के संदर्भ अधिक नहीं हैं तथा इनमें सदैव महेशुर देवता की जीत बताई गई है। दक्षिणायन का त्योहार जिसे (डकरेणी) कहा जाता है, किन्नरों का प्राचीनतम त्योहार है। यह श्रावण मास में आयोजित किया जाता है।

चंबा के पांगी क्षेत्र में 'दखणैंण' (दक्षिणायन) तथा उतरैंण (उत्तरायण) त्योहारों के प्रचलन, बलपूर्वक विवाह प्रथा, फुल्याच (फूलों का त्योहार) का फुल्यात्तर हो जाना यह सिद्ध करता है कि प्रागैतिहासिक किन्नर क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा होगा। वर्तमान समय में चंबा के पांगी क्षेत्र के निवासी आर्यभाषा का प्रयोग करते हैं जब कि किन्नर क्षेत्र के निवासियों की भाषा तिब्बती-बर्मी है। पांगी के लोग गद्दी जनजाति से संबंधित हैं तथा गद्दी औदुम्बरों के अधिक समीप

1. Atkinson, E. T. Kumaun Hills (Reprint) Delhi, 1974, pp. 297-98

माने जाते हैं। किन्नर शिकारी तो बहुत अच्छे होते हैं परंतु धनुषबाण से शिकार करना उनमें अब प्रचलित नहीं है। वे विनम्र, अतिथि-सेवी, न्यायप्रिय और ईमानदार होते हैं। उनके स्वभाव से ऐसा प्रतीत होता है कि वे लड़ाकू जाति नहीं रही। उनके आयुध जाति से संबंधित होने के प्रमाण ग्रंथों में भी उपलब्ध नहीं होते।

यहां यह उल्लेखनीय है कि रामपुर बुशहर के समीप सतलुज के किनारे बसे एक गांव का नाम 'भद्राश' है। विष्णु पुराण (2/1) तथा भागवत पुराण (5/1/33 तथा 1/22) के अनुसार जम्बूद्वीप के राजा आग्नीध्र ने अपने नौ पुत्रों जिनके नाम क्रमशः नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्यक (रम्य), हिरण्मय (हिरण्वान), कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल थे, में से किंपुरुष को हेमकूटवर्ष तथा हरिवर्ष को नैषधवर्ष दिए थे। उन्होंने भद्राश्व को मेरु के पूर्व में स्थित भद्राश्व-वर्ष तथा केतुमाल को गंधमानवर्ष के क्षेत्र दिए थे। यदि किन्नरों के पूर्वज किंपुरुष रहे हों तो उनका स्थान हेमकूटवर्ष माना जाना चाहिए। हम अन्यत्र कह आए हैं कि कुल्लू क्षेत्र का हामटा स्थान हेमकूट का अपभ्रंश हो सकता है। हामटा मलाणा के समीप स्थित है और मलाणा निवासी जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह वर्तमान किन्नौरी बोली से मिलती है।

कुछ लोग जम्बूद्वीप की राजधानी वर्तमान जम्मू मानते हैं जबकि अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि जम्मू इतना अधिक प्राचीन नगर नहीं है कि उसे जम्बूद्वीप की राजधानी होने का गौरव प्राप्त होस के। उनका कथन है कि जम्बूद्वीप का बहुत बड़ा क्षेत्र वर्तमान तिब्बत तक फैला हुआ था, अतः इसकी राजधानी की खोज वर्तमान तिब्बत के क्षेत्र में की जानी चाहिए। काव मुमेल स्थान, जो मंडी जिला में स्थित है, से प्राप्त एक प्राचीन पांडुलिपि 'शक्ति पुराण माहात्म्य टीका' में बताया गया है कि वैदिक काल में भृगु ऋषि उस स्थान पर तपस्या करते थे। उनका अवैध संबंध ममलेशा नामक एक किन्नर-बाला, जो उसी आश्रम में रहती थी, से हो गया जिससे विमल और अमल दो पुत्र उत्पन्न हुए। इन दोनों ऋषियों का वर्णन परवर्ती साहित्य में उपलब्ध नहीं है परंतु उक्त पांडुलिपि में लिखा गया है कि कालांतर में विमल मुनि की संतान 'बेडा' कहलाई।

बेडा जाति के लोगों को नष्ट करने के उद्देश्य से कुछ लोगों ने भूंडा-यज्ञ के अवसर पर बलि के लिए उन्हें रस्से पर चढ़ाकर एक सिरे से दूसरे सिरे तक धकेलने की युक्ति निकाली। उनका मंतव्य था कि इस प्रकार देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नरबलि का प्रयोग किया जा सकेगा। नरबलि की युक्ति काम आई या नहीं, इस संबंध में विवेचन की यहां आवश्यकता नहीं है परंतु इतना अवश्य है कि अब भी भूंडा यज्ञ के अवसर पर बेडा जाति का चुना हुआ व्यक्ति मूंज घास का रस्सा बनाता है और उस पर दो खंभों के बीच रेंगने के लिए उसे

यज्ञाग्नि के पास बलि के लिए समर्पित करके एक खंभे के पास ले जाया जाता है, जहां रस्से पर रेंगने के लिए एक बकरे को चढ़ाया जाता है। बाद में बेडा नर्तकों की पंक्ति में सबसे आगे चंवर लेकर नाचता है तथा उसे अछूत वर्ण से उन्नत हुआ मान लिया जाता है।

अछूत वर्ग के व्यक्ति को सवर्ण बनाए जाने का यह उदाहरण अपने आप में विशिष्ट है और प्राचीन काल की कर्मप्रधान वर्णव्यवस्था का अवशेष है। इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व यहां यह बताना आवश्यक है कि किन्नौर के निवासी अब 'नेगी' कहे जाते हैं। यह संभवतः इसलिए है कि रामपुर बुशहर रियासत जिसका यह क्षेत्र एक भाग था, में ये लोग अपनी ईमानदारी के कारण भंडार के प्रभारी होते थे। इसी कारण इन्हें नेगी कहा जाने लगा। यहां के सवर्ण अपने-आपको 'खश' अथवा 'खोशिया' कहने में गर्व अनुभव करते हैं।

विद्वानों का मत है कि खशों में एक समय में बहुपति प्रथा रही है परंतु धीरे-धीरे यह समाप्त होती चली गई। ज़िला शिमला के डोडरा क्वार तथा चौपाल क्षेत्रों में इस प्रथा के अवशेष यत्रतत्र मिल जाते हैं परंतु शेष भाग में अब यह समाप्त हो गई है। सिरमौर के कुछ भागों में भी इसका प्रचलन रहा है। किन्नौर में विवाह के उपरांत जब जामाता ससुराल जाता है तो उसे अपनी सास के पांवों पर कुछ धनराशि भेंट करके नमस्कार करना आवश्यक होता है, इस प्रथा को 'डोलङ् चिम' कहा जाता है। इससे प्रकट होता है मातृसत्तात्मक प्रथा में सास का महत्व सर्वाधिक रहा है। यदि वह प्रसन्न है तो ससुर के परिवार के सभी सदस्य संतुष्ट हैं परंतु यदि वह असंतुष्ट है तो बाकी सदस्यों की प्रसन्नता अर्थहीन है।

किन्नरों की संस्कृति की प्राचीनता उनके ग्रामदेवताओं से भी आंकी जा सकती है। ग्रामदेवताओं में महेशुर (महेश्वर अथवा महासुर) तथा उनकी बहिनें, नारायण तथा नाग उल्लेखनीय हैं। इन देवी-देवताओं की पालकियां जिन्हें 'रथङ्' अर्थात् 'रथ' कहा जाता है, बनाई जाती हैं। रथङ् को चारों ओर से काले रंग की ऊन की लड़ियों से इस प्रकार ढका जाता है कि देवता का सिर दिखाई नहीं देता। इस रथङ् के ऊपर इन लड़ियों के नीचे देवी-देवताओं की धातु मूर्तियां जिन्हें 'मूहरे' अथवा 'मुखङ्' कहा जाता है, लगाई जाती हैं। इस क्षेत्र में प्रत्येक देवता के 18 मूहरे होते हैं जो 18 भाई-बहिनों के प्रतीक हैं।

ग्रामदेव-प्रथा का प्रचलन प्रदेश के अन्य भागों में भी है परंतु किन्नरों के देवताओं के 'रथङ्' अपनी विशिष्टता के कारण भिन्न वर्ग से संबंधित होने का प्रमाण हैं। इन्हें चारों ओर से काली ऊन की लड़ियों से ढक दिया जाता है जबकि शेष भागों में मूहरे को ढकने की प्रथा नहीं है।

गंधर्वों के संबंध में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। किन्नरों की भांति इस वर्ग के लोग हिमालय से संबंधित रहे हैं। गंधर्वों की स्त्रियों को अप्सराएं

कहा जाता था। गंधर्व जाति भी किन्नरों की भांति दैवी गायन से संबंधित थी। देवताओं की सभा से संबंधित होने का अर्थ है कि वे जिस स्थान पर रहते थे उसे ही स्वर्ग कहा जाता था। ऋग्वेद (10/62/2) के अनुसार 'बल' नामक असुर को अंगिरस की आज्ञा से मारा था। किन्नौर के कुछ गांवों यथा—चगांव, उरनी, यूला व मीरू में बीशू-उत्सव के स्थान पर तीसरे वर्ष 'बल-उत्सव' मनाने की प्रथा है। इसमें गांव की परिक्रमा की जाती है तथा बंदूकों से हवा में गोलियां चला कर अदृश्य आत्माओं को भगाया जाता है। यदि 'बल-उत्सव' का संबंध इन्द्र द्वारा बल असुर को मारने की घटना से जुड़ा हो तो बल का इस क्षेत्र से संबंधित होना पुष्ट होता है।

इन्द्र के शत्रुओं वृत्र तथा शंबर आदि के साथ बल का उल्लेख ऋग्वेद (2/15/8) तथा पद्मपुराण में हुआ है। इन्द्र की राजधानी अमरावती तथा नंदनवन के संदर्भ पुराणों में उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र का प्रभाव कुबेर की भांति संपूर्ण हिमालय क्षेत्र पर था और वह आर्यों का बहुत बड़ा सेनानी था जिसने शत्रुओं से लड़कर अपने वर्ग के लोगों के लिए भूमि प्राप्त की तथा अद्‌भुत पराक्रम के कार्य करके पर्वतों को चीरकर नदियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया जिससे हिमालय क्षेत्र की झीलें सूख कर कृषि योग्य भूमि उपलब्ध हुई।

गायों तथा सोम को जीतना और वृत्रासुर को मारकर नदियों को मुक्त करना इन्द्र के कार्य बताए गए हैं। बल असुर से इसी ने गाएं प्राप्त करके अपने अधिकार में की थीं। सौ यज्ञ करने वाले को स्वर्ग में इन्द्र पद प्राप्त होता था, ऐसा उल्लेख वेदों व पुराणों में है। इन्द्र केवल आर्यवंश से ही हुए हों, ऐसा नहीं है। मत्स्य पुराण में हिरण्यकशिपु, बलि तथा प्रह्लाद को भी इन्द्र पदवी प्राप्त हुई थी, इस संबंध में सूचना प्राप्त है। इन्द्रलोक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हिमालय में स्थित था और कालांतर में इसे अलौकिक मान लिया गया। गरुड़ तथा नागों से संबंधित इन्द्र के सभी प्रकरण पृथ्वीलोक से संबंधितहै। ऋग्वेद (8/17/13) के अनुसार इन्द्र के पिता का नाम शृंगवृष बताया गया है यह कुंडपायिन ऋषि का वंशज था। डॉ० दफ्तरी का मत है कि बलि वैरोचन को इन्द्रपद ई० पू० 1678 में प्राप्त हुआ था।[1]

इन्द्र के साथ बलि के आख्यानों का अध्ययन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि ये दोनों समकालीन रहे परंतु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन्द्र अनेक हुए हैं। इन्द्र के शंबर से युद्ध भी उसे मानव श्रेणी में ला खड़ा करते हैं। इन्द्र को विश्व-रूप, वृत्रासुर तथा नमुचि आदि ब्राह्मणों की हत्या के कारण ब्रह्महत्या का दोष

1. प्राचीन भारतीय चरित्रकोश—म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, पृ० 1178, 1964 ई०

लगा था। इस हत्या के निवारण के लिए अन्य उपायों के अतिरिक्त उसने पुष्कर, प्रयाग तथा वाराणसी में स्नान किया परंतु पद्मपुराण के अनुसार इन्द्रागम तीर्थ पर स्नान करने के कारण उसका पाप समाप्त हुआ। इसी पुराण में उसके द्वारा यमुना के तट पर हजारों यज्ञ करने का उल्लेख भी है जो उसे हिमालय में यमुना नदी के तट का वासी सिद्ध करता है।

इन्द्र को जहां वर्षा का देवता, नदियां प्रवाहित करने वाला, वृत्रासुरहन्ता, गाएं, लाने वाला, सोम को जीतने वाला तथा दस्युओं और राक्षसों का शत्रु बताया है वहां उसके व्यभिचारी होने के भी अनेक संदर्भ पुराणों में वर्णित हैं जिनसे उसके कूटनायक होने की पुष्टि होती है। इन्द्र ने रुक्मांगद का रूप धारण करके मुकुंदा को धोखा दिया। मरुत्त के यज्ञ को नष्ट करने के उद्देश्य से उसने आक्रमण किया था परंतु बृहस्पति के भाई संवर्त ने अपने मंत्र के प्रभाव से उसे विकलांग बना दिया था। बृहस्पति इन्द्र के महान् सहायक के रूप में आया है। हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष जो असुरवंश से संबंधित थे, का वध भी इन्द्र ने करवाया था। बृहस्पति वैदिक पुरोहित था जिसका उल्लेख ऋग्वेद में 'बल' नामक असुर से गायों को मुक्त कराने के संदर्भ में भी हुआ है।

ऋग्वेद में इन्द्र के साथ इसका वर्णन आया है। यह दैत्य तथा असुरों का पुरोहित था तथा इसने देवताओं तथा दैत्यों के संग्राम, जो देवासुर संग्राम के नाम से प्रसिद्ध है, में शुक्र के साथ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। शुक्र राजा बलि का गुरु था, यह कथा सर्वविदित है। हमीरपुर तथा बिलासपुर क्षेत्रों में बहने वाली शुक्र खड्ड के किनारे शुक्र का आश्रम रहा होगा, ऐसा माना जाता है। शुक्रके पुत्र का नाम 'मर्क' अथवा 'मृकण्ड' तथा उसके पुत्र का नाम 'मार्कंडेय' था।

शुक्र-खड्ड के समीप ही एक अन्य खड्ड का नाम 'माकन' है जो 'मार्कण्डेय' का ही संक्षिप्त रूप है। 'मार्कण्ड' के दो तीर्थ बिलासपुर तथा हमीरपुर में हैं तथा इन दोनों ही स्थानों पर जलप्रपात है जहां प्रतिवर्ष बैशाखी के दिन उत्सव आयोजित किए जाते हैं तथा स्नान का महत्त्व है। जैसाकि अन्यत्र कहा गया है, शुक्र खड्ड के किनारे 'दभीरी' नाम का स्थान है जिसे देवासुर संग्राम के युद्धस्थल 'उद्व्रज' का अपभ्रंश माना जा सकता है। यदि उद्व्रज का संबंध दभीरी से न भी हो तो भी यह निश्चित है कि उक्त स्थान के समीप वैदिक काल में असुर निवास करते रहे होंगे। मार्कण्डेय के हिमालय के उत्तर में पुष्पभद्रा नदी के तट पर चित्रा नामक शिला के पास स्थित आश्रम का उल्लेख पुराणों में मिलता है।

सारांश यह है कि असुर, सुर तथा नाग व गंधर्व आदि जातियों का संबंध हिमालय के विभिन्न भागों से तो रहा ही है, हिमाचल प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में भी इन जातियों की संस्कृति के अवशेष विद्यमान हैं। एटकिन्सन के अनुसार यक्ष भी किन्नरों की भांति हिमालयी क्षेत्र की एक जाति थी जो बाद में खश नाम से

जानी गई। उनका कथन है कि चतुर्थ शताब्दी में लिखे गए बौद्धधर्म ग्रंथ 'दीपवंश' में हिमालय की जनजातियों में यक्षों का उल्लेख हुआ है।[1] अशोक ने उन्हें चैत्यों के निर्माण कार्य में लगाया था।

यक्षों से संबद्ध अनेक स्थान हिमाचल प्रदेश में अब भी विद्यमान हैं। अर्की के पास सोलन जिला में जखौल गांव के समीप जखौली देवी का प्रसिद्ध मंदिर शिमला की चोटी जाखू, बिलासपुर में एक गांव दख्यूत, हमीरपुर में दख्योड़ा तथा जख्योल आदि कितने ही स्थान यक्षों से संबंधित हैं। इनमें से अनेक गांवों में अब प्रायः ब्राह्मणवंश के लोग निवास करते हैं परंतु इनके नाम प्राचीन इतिहास के द्योतक हैं जिनमें शताब्दियों से परिवर्तन नहीं हुआ। मंडी तथा हमीरपुर सीमा पर बसा गांव 'जाहू' भी 'जाखू' या 'यक्षु' का अपभ्रंश है। यदि ग्रामों के नामों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाए तो अनेक ऐतिहासिक तथ्य रोमांचक जानकारी प्रस्तुत करते हैं।

मनु ने जिन जातियों को ब्राह्मण-विरोधी तथा संस्कारविहीन होने के कारण 'वृषल' कहा उनमें कंबोज, यवन, खश, शक, किरात तथा दरद आदि सम्मिलित हैं। राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार शक ही बाद में 'खश' जाति के रूप में विख्यात हुए। मनु के समय में जिस सामाजिक आचार-संहिता के आधार पर विभिन्न वर्गों के लोगों को चलना पड़ता था, उसकी आवश्यकता तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करने से स्पष्ट होती है। मनु के विचार से वर्णव्यवस्था से सामाजिक श्रम-विभाजन संतुलित तथा अनुशासनपरक हो जाता है। उनके द्वारा बनाए गए नियमों का जिन वर्गों के लोगों ने प्रतिवाद किया उन्हें उन्होंने अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया। यह व्यवस्था इतनी कठोर थी कि उसका उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड के मापदण्ड निर्धारित कर दिए गए ताकि सामाजिक न्यायकर्त्ता को किसी प्रकार की कठिनाई न रहे। इस व्यवस्था का जहां लाभ हुआ वहां वर्गभेद की खाई बढ़ती चली गई और कालांतर में जन्म से ही वर्ण का बोध होने लगा।

हिमालय की इन जातियों को देव तथा राक्षस वर्ग में विभाजित किया जाना तत्कालीन पारस्परिक संबंधों पर आधारित विवेचन है। नाग, किन्नर, गंधर्व, यक्ष, अप्सराएं, गुह्यक तथा विद्याधर देवयोनियां मानी जाती हैं परंतु पिशाच, राक्षस, असुर तथा दैत्य आदि इस वर्ग में सम्मिलित नहीं हैं। डॉ० एस० एम० अली[2] का कथन है कि द्रुम, सुग्रीव, सैन्य तथा भगदत्त आदि किन्नरों के प्रसिद्ध राजा थे तथा हिमालय के विभिन्न स्थानों में स्थित किन्नरों के लगभग सौ शहर थे। वे इन्द्रवन

1. Linguistic History of Uttarakhand—Dr. D. D. Sharma, pp. 26-27, Hoshiarpur, 1983
2. The Geography of the Puranas—pp. 55-56, 75, 108

में खेलते थे। उनके अनुसार यह वर्णन काशगर श्रृंखला पर पूरा उतरता है जहां लोग अब भी गुफा में रहते हैं। यदि काशगर को किन्नर देश माना जाए तो उसमें सौ के लगभग शहरों का होना संभव प्रतीत नहीं होता। दूसरी बात यह है कि ऊपर वर्णित राजाओं के नामों में द्रुम के अतिरिक्त अन्य सभी नाम आर्यभाषा से संबंधित प्रतीत होते हैं जो किन्नरों की वर्तमान भाषा से भिन्न है।

काशगर श्रृंखला को 'खशगर' अर्थात् प्राचीन खश जाति से संबंधित माना जाता है अतः यदि अली का कथन स्वीकार किया जाए तो किन्नर, किरात ही खश थे। परंतु यह बात सही नहीं है क्योंकि किन्नर, किरात तथा खश जातियों के नाम अनेक स्थानों पर इकट्ठे प्रयुक्त हुए हैं जो एक ही जाति के नहीं हो सकते। खशीर या कशीर ही वर्तमान कश्मीर है जिसका संबंध खशों से रहा है।

शायद ही ऐसी कोई प्राचीन हिमालय क्षेत्रीय जाति हो जिसका संबंध एक ही स्थान से रहा हो। हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों में बसे अलग-अलग वर्ग के लोगों में मुख्यतः कुलिंद (कुल्लू), खश (शिमला, सिरमौर व सोलन), किन्नर (किन्नौर तथा कुल्लू क्षेत्र का मलाणा गांव), कुणिंद-कनैत (कांगड़ा, मंडी बिलासपुर, सिरमौर, हमीरपुर व ऊना क्षेत्र), गद्दी (चंबा व कांगड़ा), भोट, खश-शक (लाहुल तथा स्पिति क्षेत्र), पंगवाल (पांगी-चंबा) आदि जातियां अब भी किसी-न-किसी रूप में दूसरों से सामाजिक मित्रता बनाए हुए हैं। इन सभी जातियों में खशों का प्रभाव सर्वाधिक रहा है। उन्होंने हिमालय क्षेत्र की संपूर्ण संस्कृति को प्रभावित किया। कश्मीर से लेकर असम तक अब भी सैकड़ों स्थान उनसे जुड़े हैं तथा राजपूत वर्ग की अनेक उपजातियों के लोग स्वयं को खश, खोशिया, खसिया कहने में गौरव अनुभव करते हैं। खश जाति में भी वीर वर्ग को खून्द कहा जाता था। खून्द योद्धाओं के लिए दिया जाने वाला नाम है। शिमला जिला में अनेक खून्द हैं।

शिमला जिला की तहसील चौपाल में अब भी लोराण, सनोई, पजाइक, चाड़, बदराहू, अङ्गराहू, अंगालटा तथा न्योल आदि अनेक प्रसिद्ध खून्द हैं। इन वंशों में वीरता की परंपरा की अनेक कथाएं प्रचलित हैं। अन्य स्थानों पर भी खून्द वीर गाथाओं से ओतप्रोत हैं। खून्द शब्द का सामान्य अर्थ 'वीरवंश' से है परंतु खश जाति में ही इस शब्द का प्रयोग होता है। राहुल सांकृत्यायन ने किन्नर देश में इस शब्द पर प्रकाश डाला है और वे इसे परगना का पर्याय मानते हैं परंतु यह निष्कर्ष उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि खून्द 'शब्द' खानदान के लिए प्रयुक्त होता है। खशों में ठोडा-नाट्य की प्रथा प्रचलित है।

ठोडा लोकनाट्य शिमला तथा सिरमौर क्षेत्रों में प्रचलित है। इसमें दो दल तीरकमान लेकर एक दूसरे से युद्ध करने के उद्देश्य से एक खुले प्रांगण में जाते हैं।

इनमें से एक दल पाशा (पांच पांडवों का दल) तथा दूसरा शाठा (साठ कौरवों का दल) कहा जाता है। प्राचीन काल में ठोडा का खेल अनेक बार वास्तविक युद्ध में परिणत हो जाता था और दोनों दलों के लोग आपस में लड़कर कट मरते थे परंतु अब यह प्रदर्शनमात्र रह गया है। युद्धवाद्यों की ध्वनि तथा ऊंचे स्वर में ललकारते हुए जब ठोडा के कलाकार अखाड़े में प्रवेश करते हैं तो युद्ध की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इन क्षेत्रों में, विशेष रूप से खश वर्ग के लोगों में यह धारणा है कि कौरव संख्या में सौ नहीं थे बल्कि उनकी संख्या साठ थी। यही कारण है कि शाठा (साठ) कौरवों का दल पाशा (पांच) से युद्ध करता है।

यह युद्ध लंबे धनुषों से तीर चलाकर किया जाता है। एक दल दूसरे को ललकारता है कि यदि उनमें से कोई वीर हमारे अमुक वीर का मुकाबला करना चाहता है तो मैदान में उतरे। ललकार सुनकर दूसरे पक्ष के द्वारा उत्तर दिया जाता है और खेल आरंभ हो जाता है। इससे पूर्व दोनों दलों कलाकार मोटे बूट तथा विशेष प्रकार के पाजामे पहनते हैं। तीर चलाने वाले के आगे खुले स्थान में तीर को रोकने अथवा अपना बचाव करने वाला व्यक्ति नाचना आरंभ करता है और तीर चलाने वाले पर नजर रखता है ताकि निशाना उसे न लगे। तीर चलाने वाला नियम के अनुसार घुटने से ऊपर चोट नहीं कर सकता। घुटने से नीचे तीर का निशाना लगते ही तीर चलाने वाले कलाकार के दल के लोग प्रसन्नता से झूम उठते हैं। इस अवसर पर दोनों दलों की ओर से बड़ी-बड़ी लाठियों वाले व्यक्ति अखाड़े को चारों ओर से घेरे रहते हैं ताकि अप्रिय घटना से बचा जा सके। इस नाट्य में युद्ध केवल दो ही व्यक्तियों में होता है।

यह परंपरा महाभारत के युद्ध की याद दिलाती है। इन क्षेत्रों के कुछ भागों में जहां खूंद रहते हैं एक देवी 'ठाहरी' का विशेष महत्त्व है। ठाहरी देवी का मंदिर गांव के बाहर होता है। ठाहरी की मूर्ति नहीं होती बल्कि एक विशेष स्थान जिसे 'थान' कहा जाता है, होता है। पत्थरों के चबूतरे पर लाल अथवा सफेद झण्डी लगाकर देवी का थान बना दिया जाता है। थान में बकरे की बलि दी जाती है तथा हलवा चढ़ाया जाता है। पुराने समय में यहां नर बलि की भी प्रथा रही है। जिन खूंदों का आपस में 'वोइर' (वैर) होता था, उनमें से अवसर पाकर दूसरे खूंद के व्यक्ति किसी को चुराकर बलपूर्वक उठाकर ले जाते थे और अपनी देवी के थान पर बलि दे देते थे। इस प्रकार वैर का अंत नहीं था।

ऐसा प्रतीत होता है कि खश वंश के लोगों का कुणिद अथवा अन्य वंश के लोगों से आरंभ में वैर रहा होगा और धीरे-धीरे विवाह-संबंध स्थापित होने पर इन वंशों की पृथकता समाप्त होती गई। चौपाल क्षेत्र की गड़ाली देवी भी वर-बलि लेती थी, ऐसी किंबदंती है। नरबलि प्रथा हिमालय के अनेक क्षेत्रों में प्रचलित रही है, इसका प्रमाण लोकगीतों, देवस्थानों, त्योहार-उत्सवों आदि में

मिलता है। यह परंपरा किस जाति द्वारा आरंभ हुई, यह पता लगा पाना कठिन है। लाहुल-स्पिति, किन्नौर, कुल्लू, शिमला, सिरमौर तथा अन्य अनेक स्थानों पर नरबलि के संदर्भ उपलब्ध हैं। भूण्डा तथा शांत उत्सवों में नरबलि का प्रचलन रहा है परंतु अब बलि प्रथा बंद हो गई है। सिरमौर क्षेत्र की हेड़ देवी तथा हरिपुर धार पर स्थित बघाण देवी भी नरबलि लेती थी।

प्राचीन जातियों की संस्कृति के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए विवाह-संस्कारों की परंपराओं का अध्ययन रोचक विषय है। गंधर्वों की स्त्रियों तथा कन्याओं को अप्सराएं कहा जाता था, यह पहले लिखा जा चुका है। प्राचीन धर्म ग्रंथों में अप्सराओं के सौंदर्य तथा स्वतंत्रता पर अनेक आख्यान मिलते हैं। गंधर्व क्षेत्र की सीमाओं तथा स्थिति के संबंध में स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना कठिन है परंतु किन्नरों के साथ गंधर्वों और यक्षों के वर्णन उपलब्ध होने के कारण यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि गंधर्व देश किन्नर क्षेत्र के समीप ही रहा होगा।

उत्तर प्रदेश के कुछ भागों तथा शिमला जिला में प्रचलित 'गाडर' विवाह-प्रथा से इन्हीं क्षेत्रों को गंधर्वदेश माना जा सकता है। वधू द्वारा वर के घर जा कर उससे विवाह करने की प्रथा अब भी इन क्षेत्रों में प्रचलित है जिससे स्पष्ट होता है कि गंधर्वों में स्त्रियों को अपेक्षाकृतअ धिक अधिकार प्राप्त थे।

कुल्लू क्षेत्र में कुलिंद वर्ग के लोगों का निवास है। इन्हें कोल समूह से भी संबंधित किया जाता है। इस क्षेत्र की जातियां स्वयं को खशवर्ग से भिन्न मानती हैं। आउटर सिराज क्षेत्र में कुलिंद लोग 'राव' कहे जाते हैं तथा इस क्षेत्र में बसे खशों से विवाह-संबंध स्थापित करना पसंद नहीं करते। कुल्लू क्षेत्र में विवाह-प्रथा अन्य क्षेत्रों से तनिक भिन्न है। यहां दहेज-प्रथा नहीं है। 'बड़ा ब्याह' प्रकार में कन्या व वर के माता-पिता की सहमति होती है। वास्तव में वर पक्ष के लोगों द्वारा वधू पक्ष वालों से रिश्ता स्थापित करने का आग्रह किया जाता है। विवाह में अनार के वृक्ष की पूजा की जाती है। संबंधियों की ओर से महिलाएं सहयोग के रूप में विवाह वाले परिवार को कुछ अनाज भेंट करती हैं। यह अनाज 'तलाई' कहा जाता है। 'घौर ब्याह' (घर ब्याह) प्रकार में कन्या तथा वर स्वेच्छापूर्वक विवाह करते हैं। इस प्रकार के विवाह में वधू के मां-बाप सम्मिलित नहीं होते। इसमें भी अनार के वृक्ष की पूजा का विधान है। 'सोना का विवाह' साधारण प्रकार का विवाह है जिसमें एक शाम के भोजन का निमंत्रण दिया जाता है।

इस क्षेत्र में पुनर्विवाह अथवा हारी (हरण) की दशा में भी स्त्री को तभी सुहागिन माना जाता है यदि उसका सबसे पहले विवाह का पति जीवित हो। यह परख तभी होती है जब दूसरे, तीसरे पति के घर कोई धार्मिक अनुष्ठान का आयोजन किया गया हो जिसमें पति तथा पत्नी का सम्मिलित होना आवश्यक

हो। नया पति जो पत्नी को भगाकर, विवाह की राशि देकर अथवा तलाक दिलवाकर लाया हो, अनुष्ठान में विवाहित पति के जीवित होने पर ही उसे सुहागिन मानकर भाग लेने का अधिकार देता है।

औदुम्बरों से संबद्ध गद्दी जनजाति में प्रथा है कि विवाह की बात पक्की हो जाने पर वर पक्ष की ओर से इस खुशी के अवसर पर किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति द्वारा गुड़ तोड़ा जाता है। इस प्रथा को 'गुण भुनणा' कहा जाता है। 'गुड़ भुनणा' के पश्चात् विवाह-संबंध निश्चित माना जाता है। विवाह के अवसर पर पुरोहित द्वारा व्यास, सतलुज, रावी, मारतण्डे, सरस्वती, यमुना तथा गंगा इन सात नदियों का पूजन किया जाता है। मारतण्डे संभव मारकण्डेय नाम की नदी का अपभ्रंश रूप है। इस क्षेत्र में इस नाम की नदी नहीं है। पूजन के पश्चात् पुरोहित लड़की के मुंह में धनिया देता है। धनिया देने की प्रथा किसी प्राचीन परंपरा की ओर संकेत करती है।

विवाह के अवसर पर बनाए गए धर्म भाई को 'मित्र' तथा धर्मबहिन को 'मित्रनी' कहा जाता है। गद्दी जब भेड़-बकरियां चराते हुए चंबा-गदेरन के क्षेत्र से बाहर आते हैं तब भी वे विभिन्न ग्रामवासियों को 'मित्र' शब्द से संबोधित करते हैं। उनके इस संबोधन को औदुम्बरों में दूसरी तीसरी शताब्दी ईस्वी में प्रचलित बौद्धधर्म के प्रभाव के अंतर्गत देखा-परखा जा सकता है। उस समय औदुम्बरों के राजाओं के नाम 'मित्र' शब्द से समाप्त होने लगे। हरिचंद पराशर[1] का मत है कि उदुम्बर पेड़ का प्राकृत भाषा में नाम 'रुम्बल' या फकूड़ा है और हिंदी में इस वृक्ष को 'अंजीर' जाता है। उनका कथन है कि उदुम्बर पेड़ इन लोगों का चैत्य वृक्ष अथवा टोटेम था।

विश्वामित्र के साथ औदुम्बरों के संबंध का पता उनके सिक्के से चलता है। ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी से ईसा की चौथी शताब्दी तक पठानकोट क्षेत्र में औदुम्बरों का प्रभुत्व रहा जो एक लंबी अवधि है। औदुम्बर जाति साल्व शाखा से संबंधित मानी जाती है। महादेव की उपाधि से विभूषित इनके नेता शिव के प्रतिनिधि माने जाते थे। इनके सिक्कों के प्रतीक पेड़, हाथी, कमल, त्रिशूल, परशु, विश्वामित्र का चित्र तथा छत वाला मंदिर इनके उपलब्ध सिक्कों पर प्राचीन इतिहास का महत्त्वपूर्ण संकेत देते हैं। इनसे पता चलता है कि ये धार्मिक रूप से शैव मत के अनुयायी थे। औदुम्बरों की एक ऊन की मंडी ऊना शहर से लगभग तीन मील की दूरी पर हमीरपुर-ऊना सड़क सर स्थित थी। इस स्थान पर कुल्लू की ऊन जिसे 'ऊर्ना' कहा जाता था। यही कारण है कि इस ऊन के कारण वर्तमान 'ऊना' नाम प्रसिद्ध हुआ।

1. कुल्लू दशहरा स्मारिका—1979, पृ० 14-15

डॉ० मदनचंद्र भट्ट ने अपनी पुस्तक 'हिमालय का इतिहास भाग-1' में 'औदुम्बर तथा विश्वामित्र'[1] शीर्षक से एक सुंदर विवरण दिया है। उनका कथन है कि पंजाब संग्रहालय में उपलब्ध धरघोष राजा के चांदी के सिक्के में संन्यासी की आकृति के सामने गोलाई में खरोष्ठी लिपि में 'विश्वामित्र', 'महादेवस राज धरघोष' तथा नीचे 'ओदुंबिरम' लिखा हुआ है तथा चारों ओर ब्राह्मी लिपि में 'महादेवस राज धरघोष' भी अंकित है। उन्होंने कनिघंम द्वारा पठानकोट से प्राप्त इसी प्रकार के एक सिक्के का ब्रिटिश संग्रहालय में उपलब्ध होने का उल्लेख भी किया है। वे औदुम्बरों को व्यास, रावी तथा सतलुज उपत्यकाओं के निवासी मानते हैं। उनका कथन है कि कनिघम ने नूरपुर को औदुम्बरों की राजधानी माना है जिसका कारण वर्तमान समय में भी वहां उदुम्बरों के वृक्षों की विद्यमानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरमौर को ब्रह्मपुर मानकर विद्वानों का औदुम्बरों से इस स्थान को संबद्ध मानने का प्रयत्न क्षतिग्रस्त हुआ है।

भरमौर के समीप स्थित नदियों के स्थानीय नामों से इस बात की पुष्टि संभव है। यदि औदुम्बर निचले शिवालिक क्षेत्रों यथा—कांगड़ा, पठानकोट, गुरदासपुर, होशियारपुर, नूरपुर, हमीरपुर तथा ऊना आदि से ही संबंधित रहे होते तो वे ऊन की मंडियों के लिए प्रसिद्ध न होते।

हिमाचल की प्राचीन जनजातियों के हमारे प्राचीन ग्रंथों में इतने अधिक वर्णन उपलब्ध हैं कि उन्हें एक पुस्तक में प्रस्तुत करना संभव नहीं है। यहां हिमालय को 'हिमालय' के अर्थ में लिया गया है परंतु यदि वर्तमान हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं को ही ध्यान में रखा जाए तो भी कहा जा सकता है अनेक प्राचीन जातियों के लोग इस क्षेत्र में आए और अपनी संस्कृति की छाप छोड़ गए। आज के संदर्भ में किसी विशेष जाति की संस्कृति का अध्ययन अलग रूप से किया जाना संभव नहीं है। वर्तमान भारत अनेक संस्कृतियों का संगमस्थल है और हिमालय इनका पुरतात्विक संग्रहालय है, इसी उद्देश्य से कुछ सामग्री प्रस्तुत पुस्तक में संकलित की गई है।

प्राचीन जनजातियां चाहे देववर्ग से संबंधित हों अथवा अनार्य वर्ग से, अशरीरी वर्ग से संबद्ध हो गई हैं। असुर, राक्षस, देव, यक्ष, गंधर्व, पितर, पिशाच आदि अब अलौकिक प्राणी माने जाने लगे हैं क्योंकि भारत के आद्य इतिहास पर विधिवत् अनुसंधान के प्रयत्न नहीं हुए हैं। हिमालय के सांस्कृतिक अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में सही स्थिति का ज्ञान अब भी संभव है, इसी उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक में सामग्री संकलित करने का प्रयास किया गया है। □□

1. देखिए, पृ० 26-31

संदर्भ-ग्रंथ

1. आचार्य भरत—डॉ० शिवशरण शर्मा; मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1971
2. आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय—भजन सिंह; रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968
3. उत्तर ध्रुव से गंगा—परमानंद पटेल; दिल्ली, 1960
4. ऋग्वैदिक आर्य – राहुल सांस्कृत्यायन; इलाहाबाद, 1957
5. कल्हण कृत राजतरंगिणी—भाष्यकार रघुनाथ सिंह; हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।
6. किन्नर लोकधर्म— कृष्णनाथ; सातवाहन प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. किन्नर लोक साहित्य -डॉ० बंशीराम शर्मा, ललित प्रकाशन, लैंहड़ी सरेल, जि० बिलासपुर, (हि० प्र०) 1976
8. गढ़वाली और उसका साहित्य—डॉ० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश'; हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, 1976
9. जालंधरपीठ दीपिका -पृथुराम शास्त्री; तुलसी सदन वसदी, डाकघर : कोहाला, जि० कांगड़ा (हि० प्र०), 1983
10. पंजाब का इतिहास—धर्मवीर, इंडियन प्रेस लिमिटेड इलाहाबाद 1982
11. प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास—विमलचंद्र पांडेय; इलाहाबाद, 1958
12. प्राचीन भारत में हिंदू राज्य —वृन्दावनदास; साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा; दिल्ली, 1972
13. प्राचीन हिमाचल : इतिहास एवं संस्कृति—डॉ० एल० पी० पांडेय; इंडियन क्लासिक्स, 7608-9, रामनगर, नई दिल्ली, 1981
14. पहाड़ी भाषा—एम० आर० ठाकुर; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1975
15. पाणिनिकालीन भारत -वासुदेवशरण अग्रवाल; काशी, सं० 2012 वि०

16. भारत की जनजातियां—डॉ० शिवतोष दास; किताबघर, गांधी नगर, दिल्ली, 1983
17. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास—भगवत दत्त; इतिहास प्रकाशन मंडल, दिल्ली, सं० 2017
18. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश—म० म० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव; पूना, 1964
19. भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन—द्वारकाप्रसाद मिश्र; मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1972
20. भारतीय पुरालिपि—डॉ० राजबली पांडेय; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978
21. भारतीय सिक्के—वासुदेव उपाध्याय; भारती भंडार, प्रयाग, सं० 2005
22. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—सत्यदेव विद्यालंकार; मसूरी, 1960
23. भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव—गौरीशंकर पंड्या; किताबघर, गांधीनगर, दिल्ली, 1983
24. भारतीय संस्कृति की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि—डी० एच० गार्डन; बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1970
25. भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लिमिटेड, नई दिल्ली, 1961
26. मध्य एशिया का इतिहास; खंड 1—राहुल सांकृत्यायन; पटना, 1956
27. मंदिर स्थापत्य का इतिहास—डॉ० सच्चिदानंद सहाय; बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1681
28. मेघदूत, रघुवंश—कालिदास
29. लोकसाहित्य और संस्कृति—दिनेश्वर प्रसाद; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973
30. विश्व इतिहास की झलक—चंद्रशेखर भट्ट, किशनचंद्र जैन; एस० चांद एंड कंपनी, दिल्ली, 1960
31. वैदिक युग के भारतीय आभूषण—डॉ० राय गोविंदचंद्र; चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
32. वैदिक राजनीति शास्त्र—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा; बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1975
33. वैदिक वाङ्मय का इतिहास—भगवतदत्त; लाहौर, 1935

34. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1972
35. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति—डॉ० निर्मला भार्गव; देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1972
36. वैदिक संस्कृति के तत्त्व —डॉ० मंगलदेव शास्त्री; समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 1961
37. वैदिक साहित्य की रूपरेखा—सत्यनारायण पांडेय व रसिकबिहारी जोशी; साहित्य निकेतन, कानपुर, 1957
38. शैवमत और लोकवाणी—तेजराज पूंगा; शिमला (अप्रकाशित)
39. संस्कृत हिंदी कोश—वामन शिवराम आप्टे; दिल्ली, 1966
40. संसार की प्राचीन सभ्यताएं तथा भारत से उनका संबंध—रामकिशोर शर्मा, कलकत्ता, 1962
41. स्पीति में बारिश—कृष्णनाथ; सातवाहन प्रकाशन, नई दिल्ली-65, 1982
42. हिंदी निरुक्त—उमाशंकर शर्मा ऋषि; चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, 1966
43. हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—त्रिवेणीप्रसाद सिंह; बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, 1970
44. हिंदू सभ्यता—डॉ० राधाकमल मुखर्जी; 1958
45. हिमाचल प्रदेश का इतिहास—मियां गोवर्धन सिंह; (अप्रकाशित) द्वारा हिमाचल प्रदेश सचिवालय पुस्तकालय, शिमला, 1985
46. हिमाचली लोकगाथाएं —रामदयाल नीरज; लोकसंपर्क विभाग, हि० प्र० शिमला, 1973
47. हिमालय का इतिहास—डॉ० मदनचंद्र भट्ट; (भाग-1) हुक्का प्रकाशन, तुलसी भवन, छावनी मार्ग, नैनीताल, सं० 2038
48. हिमालय की संपदा—डॉ० प्रेमस्वरूप सकलानी; हिमाचल पुस्तक भंडार, गांधी नगर, दिल्ली, 1983
49. हिमालय परिचय—राहुल सांस्कृत्यायन; 1953
50. हिमालय में भारतीय संस्कृति—विश्वम्भर प्रेमी; चैतन्य प्रकाशन, कानपुर, 1965

पुराण-साहित्य

अथर्ववेद	ऋग्वेद
तैत्तिरीय संहिता	नीलमत पुराण
पद्मपुराण	भागवत पुराण
मत्स्य पुराण	महाभारत
मनुस्मृति	मार्कण्डेय पुराण
वायु पुराण	वाल्मीकि रामायण
वृहद्देवता	शतपथ ब्राह्मण
स्कंद पुराण	हरिवंश पुराण

अंग्रेजी : संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. A Critical Survey of Geographical Material in the Nilmata The Matsya, The Vishnu and the Vayu Purana—A Copy of the Ph. D. Thesis in Delhi University Library by Savitri Saxena; Delhi
2. An Account of the kingdom of Nepal and Territory annexed to the Dominion by the House of Gorkha — Francis Hamilton; Edinberg, 1819
3. Ancient Geography of India—A. Cunningham; Varansi, 1963
4. Ancient People of the Punjab—Przyluski, J.; Calcutta, 1960
5. Bhuri Singh Museum Chamba : An Introduction—Vishwa Chandra Ohri; Department of Language and Culture, Himachal Pradesh, Simla, 1984
6. British Garhwal—A Gazetteer : Walton, H. G.; Allahabad 1910
7. Cambridge History of India—Rapson E. J.; Delhi, 1955
8. Chinese Account of India - Samuel Beal; Calcutia, 1958
9. Coins of Ancient India—Cunningham, A.; Varansi, 1963

10. Comprehensive History of India—Sastri, K. A. Nilkanta; 1957
11. Early Indian Religions—P. Banerjee; Vikas Publishing House, Pvt. Ltd., Delhi, 1973
12. Early Kushanas—Baldev Kumar; Delhi, 1973
13. Early Wooden Temples of Chamba—Goetz, Herman; Leiden, 1955
14. Encyclopaedia of Religion and Ethics; 1955
15. Epic Mythology—E. Washburn Hopkins; Moti Lal Banarsi Dass, Delhi, 1974
16. Gandharvas and Kinnaras in Indian Iconography—Vidyaratna R. S. Panchmukhi; Kannada Research Institute, Dharwar, 1951
17. Garhwalis—Evatt, G.; 1924
18. Glossary of Tribes and Castes of North Western Frontier and Punjab (Reprint)—H. A. Ross; Language Department, Punjab, Patiala, 1953
19. Gupta Empire – Radha Kamal Mukherjee; 1962
20. Heritage of Vedic Culture—Satyavrata Siddhantalankar, D. B. Taraporewala Sons and Co. Pvt. Ltd., Bombay, 1969
21. Himachal Art and Archaeology (Some Aspects)—Vishwa Chandra Ohri; State Museum, Simla, 1980
22. Himalaya in Indian Life—Pannikkar, K. M.; Bombay, 1963
23. Hindus of the Himalayas—Gerald D. Berreman; University of California Press, Berkeley, Los Angeles, London, 1972
24. Historical Atlas of Indian Peninsula (Second Edition)—C. Collin Davis; Oxford University Press, Madras, 1973
24. History and Culture of Indian People. Vol. I
26. History and Culture of Indian People—Age of Imperial Unity.
27. History and Religion of Lahul—Tobdan; Books Today; Karol Bagh, New Delhi, 1984

28. India as Known to Panini—V. S. Agarwala; Lucknow, 1953
29. India in the time of Patanjali—Dr. Baij Nath Puri; Bombay 1957
30. Kumaon Hills (Reprint)—Atkinson, E. T.; Delhi, 1974
31. Linguistic History of Uttarakhand—Dr. D. D. Sharma; Vishveshvaranand Vedic Research Institute Publication—Hoshiarpur, 1983
32. Mount Everest—Tony Hogen.
33. Political History of Ancient India—Roy Chaudhary, H. C.; Bombay, 1957
34. Punjab State Gazetteer, Pb. Govt., Simla Hill States, Bushchar State Gazetteer Lahore, 1911 and Punjab Dist. Gazetteer, Vol VIII, Kangra 1924-25, 34, Lahore, 1926
35. Pre-historic, Ancient and Hindu India—R. D. Banerji
36. Pre-history and Proto history—H. D. Sankalia, Bombay, 1962
37. Racial Affinities of Early North Indian Tribes—Sudhakar Chattopadhyaya; Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1973
38. Snake Cult in Indian Religion—Sarkar Anil; Modern Review, 1962
39. Studies in Indian Agriculture—Roy Chaudhary.
40. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India—D. C. Sircar.
41. Surviving Harppan Civilization—Dr. P. C. Kashyap; Abhinav Publications, New Delhi, 1984
42. The Culture and Art of India—Radha Kamal Mukherjee.
43. The Date of the Mahabharata War and Kali Yugadhi—K. Srinivasa Raghavan; Srinivasa Gandhi Nilayam, Srigam Printers, Madras-18, Saka 1891
44. The Geography of the Puranas—S. M. Ali.
45. The Vedic Age

46. Tribal Coins : A Stndy—M. K. Sharma, Delhi, 1972
47. Vedic India—Ragazin, Zenai de A.; London
48. Worship of Nature —J. G. Frazer; Vol. I, Macmillan and Co., St. Martin's Street, London, 1926

पत्रिकाएं : हिंदी-अंग्रेजी

1. कुल्लू-दशहरा स्मारिका—भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०, शिमला, 1975-84
2. पहाड़—'यामा' रोहिला लॉज, नैनीताल, उत्तरप्रदेश, 1984
3. विपाशा—भाषा वं संस्कृति विभाग, हि० प्र०, शिमला, 1984-85
4. विश्वज्योति—विश्वेश्वरानन्द संस्कृत शोध-संस्थान, होशियारपुर
5. संस्कृति—शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय, नई दिल्ली
6. सोमसी—हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी, शिमला
7. हिमप्रस्थ—लोकसम्पर्क विभाग, हि० प्र०, शिमला-171002
8. हिमभारती—हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी, शिमला
9. हिमालय कल्पद्रुम—कुमार सन्ज, सोलन, (हि० प्र०)

1. Folklore—Calcutta
2. Indian Express—Chandigarh
3. Modern Review
4. The Tribune—Chandigarh

नामानुक्रमणिका

□□